रामचन्द्र की आत्मकथा

प्रथम भाग

१८९९-१९३२

अनुवादक

लक्ष्मीशंकर

प्रिंसिपल, के० पी० यूनिवर्सिटी कालेज

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७६ — २००० प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : १९८१ — २००० ,,

© प्रकाशक : प्रकाशन विभाग,
श्री रामचन्द्र मिशन
शाहजहांपुर (उत्तर प्रदेश)
भारतवर्ष।

मूल्य : १० अजिल्द
: १२ सजिल्द

एकेडमी प्रेस, दारागंज इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

(केन्द्रीय सरकार से प्राप्त रियायती दर के कागज पर मुद्रित)

प्रकाशकीय टिप्पणी

अपने पाठकों के सन्मुख हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एव मूल्यवान प्रकाशन, श्री रामचन्द्र जी—संस्थापक अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उत्तरप्रदेश, भारत—की **आत्मकथा**, अत्यन्त हर्ष के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। बड़ी कठिनाई से गुरुदेव को अपनी आत्मकथा लिखने के लिए राजी किया जा सका; किसी भी प्रकार के प्रचार की उनकी अनिच्छा सर्वप्रमुख कठिनाई थी।

भारतीय गणराज्य में उत्तर प्रदेश राज्य के शाहजहाँपुर नगर को उनके जन्म-स्थान होने का सौभाग्य प्राप्त है। उस हिन्दू कायस्थ परिवार को, जिनमें वे पैदा हुए थे, एक ऐतिहासिक स्थान प्राप्त है और उसके गौरवपूर्ण इतिहास का पता हमें महान् सम्राट अकबर के समय से मिल सकता है। उनके पूर्वजों में से एक ने अकबर के दरबार में मीर मुन्शी के रूप में कार्य किया था। यह दर्जा मंत्रो के बराबर होता था। उन्हें बागरा (जिसका अर्थ बहादुर होता है) की पदवी प्राप्त थी। अवध में तालग्राम स्थान में उनकी एक जागीर थी जो कई पुश्तों तक चलती रही। बाद की पीढ़ी के एक, बख्शी कुन्दनलाल, नवाब शुजाउद्दौला के मुख्य सेनाधिकारी थे और १७६१ में पानीपत की तीसरी लड़ाई में सेना का नेतृत्व किया था। एक अन्य शासक, हाफिज रहमत खाँ, उनके साहस एवं बहादुरी से इतने अधिक प्रभावित थे कि नवाब शुजाउद्दौला से उनकी सेवाओं को उधार लेकर उन्हें अपना सेनाधिकारी नियुक्त किया। किन्तु १७७४ में फतेहगंज (शाहजहाँपुर के निकट) में रहमत खाँ एवं शुजाउद्दौला की लड़ाई में वे अपने नये नवाब के साथ मारे गए। उनके कुटुम्ब के बचे हुए लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए उस स्थान से भाग गए और विभिन्न स्थानों में फैल गए।

१८२४ ई० में इस पुस्तक के लेखक महात्मा श्रीरामचन्द्र जी महाराज के प्रपितामह एवं बख्शी साहब के पौत्र दीवान श्री शादी लाल शाहजहाँपुर के नवाब के यहाँ दीवान या मंत्री नियुक्त किये गये। उनके पुत्र एवं लेखक महात्मा श्री रामचन्द्र जी के पितामह श्री जानकीप्रसाद, अंग्रेजी शासन में बदायूँ की माल कचहरी में मुनसरिम हुए।

लेखक के पूज्य पिता श्री बद्रीप्रसाद जी, १२ जुलाई १८६७ में बदायूँ में पैदा हुए थे। एक गौरवपूर्ण शैक्षिक जीवन के पश्चात् उन्होंने १८८२ में शाहजहाँपुर में वकालत करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही वे अपने समय के उच्च कोटि के वकील बन गये। अल्प समय में ही उन्होंने अत्यधिक ख्याति प्राप्त किया और प्रथम श्रेणी के स्पेशल मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए गए। वे इतिहास के एक बड़े मर्मज्ञ विद्वान थे और भारतीय इतिहास के प्राचीन काल पर उनकी उर्दू की कृति "मुशारिफ-उल-तारीख हिन्द," जो अब भी पांडुलिपि में ही है, एक दुर्लभ एवं मूल्यवान कृति है। उनकी अभी तक अप्रकाशित, उर्दू में लिखित, श्री कृष्ण की वंशावली पर शोध भी अत्यन्त मूल्यवान है।

अपने गुरुदेव—जिनकी आत्मकथा प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है—के परिवार का उपरोक्त एक संक्षिप्त इतिहास है। हमारा विश्वास है कि सहज-मार्ग की ध्यान प्रणाली का अनुसरण करने वाले सत्यान्वेषियों के लिए आध्यात्मिक अवस्थाओंएवं दैनन्दिनी पर पूज्य गुरुदेव की समीक्षायें अत्यन्त दिलचस्प एवं ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होंगी। ईश्वर साक्षात्कार के मार्ग पर चलने में सूक्ष्मग्राही अन्वेषी अपनी प्रगति का अधिक ज्ञान प्राप्त करेगा।

बसन्त पंचमी
२८ जनवरी, १९७४ प्रकाशक

/ब

हिन्दी संस्करण

मैंने अपने सद्गुरु परम पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज, अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश, की अंग्रेजी में लिखी Autobiography of Rama Chandra का सरल एवं सही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्हीं की महती कृपा एवं प्रेरणा के फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो सका है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी भाषियों के लिये यह संस्करण उपयोगी सिद्ध होगा।

मूल पुस्तक एवं अनूदित पुस्तक "रामचन्द्र की आत्मकथा" में किसी प्रकार की भिन्नता की स्थिति में मूल पुस्तक को ही सर्वथा प्रमाणित समझना चाहिये।

बड़ी विनम्रतापूर्वक इसे अपने सद्गुरु के चरणों में अर्पित करते हुये मुझे अपार हर्ष हो रहा है। उनका पुण्यशील सान्निध्य हमारे हृदयों को सदा सर्वदा आलोकित करता रहे!

बसंत पंचमी
५ फरवरी १९७६

लक्ष्मी शंकर
प्रिन्सिपल,
के० पी० युनिवर्सिटी कालेज,
इलाहाबाद।

विषय सूची

१.	प्रारम्भिक जीवन	१
२.	युवावस्था—नौकरी	१०
३.	गुरु के चरणों में	१६
४.	१८२८	२४
५.	१८२९	४२
६.	१८३०	७६
७.	१८३१	१३६
८.	१८३२	१७६

प्रारम्भिक जीवन

मेरा जन्म रविवार, ३० अप्रैल १८९८ को, प्रातः ७ बजकर २६ मिनट (विक्रम संवत् १८५६, शक १८२१ वैशाख बदी पंचमी—समय ४ घड़ी ५५ पल) पर हुआ था।

मेरे पिता रायबहादुर श्री बद्रीप्रसाद जी, प्रथम श्रेणी के अवैतनिक स्पेशल मैजिस्ट्रेट थे। मेरी माँ ने मुझे बताया कि बचपन में मेरी खाने के प्रति उतनी रुचि न थी जितनी साधारणतया बच्चों की होती है। भोजन सामने परस जाने पर भी, जब तक कि कोई अन्य मेरे मुख में न डाल देता, मैं स्वयं नहीं खा सकता था। मेरे जीवन के प्रत्येक पग पर मेरी माँ ने मुझे "सच्चे बनो, चोरी न करो" का सबक सिखाया था। उनके प्रशिक्षण का यह असर हुआ कि वह मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

बालक, जब तक कि वह बोलना और सोचना आरम्भ करता है, उसके आरम्भ होने वाले चरित्र को उसके माता-पिता तथा अन्य लोगों के सुझाव प्रभावित करते हैं। वे सुझाव बालक के जीवन के अंग बन जाते हैं। बच्चा सुझावों का अर्थ 'हो' जाता है। जब वह बड़ा होता है तो

माता-पिता तथा अन्य लोगों के सुझाव उसपर काफी अधिक प्रभाव डालते रहते हैं। चूंकि इसी आयु से विचारशक्ति आरम्भ होती है, वह अपने को निर्मित करना प्रारम्भ करता है, और इसी आयु में उसके चारों ओर का वातावरण भी उसे प्रभावित करता है। आगे चलकर वह एक बँटी हुई रस्सी के समान हो जाता है। रस्सी के जल जाने पर भी उसकी ऐंठन जैसी की तैसी ही बनी रहती है। बचपन के इस पहलू पर माता-पिता को काफी ध्यान रखना चाहिये और उन्हें चाहिए कि जो सही हो वही बच्चों से कहा जाय। एक बच्चे पर उसके माता-पिता के शब्दों का प्रभाव पड़ सकता है भले ही उसमें सोचने और समझने की शक्ति विकसित न हुई हो। अतः बच्चों के सामने बात करने में हमें अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिये। बच्चों के समक्ष कोई भी मूर्खतापूर्ण बात नहीं करनी चाहिए। महाभारत के अभिमन्यु का उदाहरण सर्वविदित है। जब अभिमन्यु अपनी माँ के गर्भ में था तो अर्जुन ने उसकी माँ को चक्रव्यूह में घुसने का उपाय बताया था। महाभारत युद्ध आरम्भ होने पर अभिमन्यु की आयु १६ वर्ष की थी। उसने अपने चाचाओं को बताया कि वह चक्रव्यूह में घुस सकता था; और, वह उसमें घुस पड़ा। परन्तु उसमें से वह वापस न लौट सका क्योंकि अर्जुन चक्रव्यूह से वापस निकल आने का उपाय अपनी स्त्री को नहीं बता पाये थे।

इस विषय में मैं आपको अपना ही एक अन्य उदाहरण देता हूँ। ध्यान आरम्भ करने के कुछ समय बाद मैंने एक दिन अपने आपको दो-तीन महीने के बच्चे की भाँति एक सूप में, जिस पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं, देखा। मैंने इस पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं अवश्य ही अपनी माँ द्वारा सूप में लिटाया गया हूँगा। पूछने पर मेरी माँ ने उसे अनुमोदित किया और बताया कि उसने वैसा कई बार किया था।

अपने बचपन में (लगभग ६-७ वर्ष की आयु में) मैंने अपनी माँ को परम्परागत पूजा करते हुए बहुधा देखा था। मैंने उनसे वही पूजा सिखाने की प्रार्थना की थी। वह हमारे मस्तक पर चन्दन का टीका लगा देती थी और मैं यह समझकर कि मैंने भी उस दिन पूजा किया, बहुत प्रसन्न होता था। यह कुछ समय तक चलता रहा।

नौ वर्ष की आयु से मुझमें ईश्वर के प्रति एक प्रकार की प्यास मालूम हुई और पानी में डूबते हुए मनुष्य की भाँति मैं घबड़ाया सा रहता था। तब मैंने भगवद्गीता पढ़ना प्रारम्भ किया। गीता का अध्ययन भी मुझमें वह हालत पैदा न कर सका जिसकी मुझमें तीव्र चाह थी।

मैंने अपने पुरोहित जी से अनुरोध किया कि वे साक्षात्कार करा सकने वाली पूजा की विधि मुझे बताएँ। उन्होंने मुझे 'राम-राम' जपने को कहा। मैंने सात दिनों तक, निर्धारित समय पर, वैसा ही किया किन्तु मुझे अपनी हालत में कोई परिवर्तन न दिखाई पड़ा। तदुपरान्त मैंने मूर्ति पूजा आरम्भ किया। मुझे ऐसा लगा कि वह मुझे आगे ले जाने की अपेक्षा पीछे ढकेल रही है। विवश हो मुझे उसे भी त्यागना पड़ा।

यह सब चीजें मेरी प्यास न बुझा सकीं। घबड़ाहट का यह काल चौदह वर्ष की आयु तक बना रहा। मैं हर समय एक अच्छे और योग्य गुरु की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता रहा। मैंने यह निश्चय किया कि इस विचार के साथ मैं जिस किसी के भी पास पहुँचूँगा निश्चयतः उसे ही अपना गुरु स्वीकार कर लूँगा।

लगभग उसी आयु में मुझमें एक विचित्र प्रकार की प्रवृत्ति विकसित हुई। उसके द्वारा मैं अपने वस्त्रों को उनकी गन्ध मात्र

से ही पहचान सकता था। यह प्रवृत्ति यहाँ तक विकसित हो गई कि चौदह वर्ष की आयु में मैं किसी भी व्यक्ति का चरित्र उसके पसीने की गन्ध से ही जान सकता था।

कुछ समय बाद मेरी रुचि दर्शन-शास्त्र में हो गई। मैंने स्वयं अपने ही ढंग से समस्याओं पर मनन करना प्रारम्भ किया। १५-१६ वर्ष की आयु में मैंने दर्शन की पुस्तकें पढ़ना चाहा। मैंने Mill की पुस्तक Utilitarianism खरीदा। उस पुस्तक के कुछ पृष्ठ मैंने पढ़े। फिर मेरे मस्तिष्क में यह विचार उठा कि मैं ऐसी पुस्तकों का अध्ययन करूँगा तो मैं उन्हीं के विचार उद्धरण के रूप में लिखूँगा और मेरी मौलिकता खो जायेगी। अतः मैंने पुस्तक को बन्द कर ताक पर रख दिया। पुनः मैं अपनी विचार-शक्ति विकसित करने में लग गया। मेरे बचपन से ही जो कोई भी, चाहे वह मेरा सम्बन्धी हो या अन्य, मुझे देखता, मुझे मूर्ख समझता। आरम्भ से ही मेरा स्वभाव अत्यधिक विनीत था और अब भी है, परन्तु अब रूप बदल गया है। लोग अब मुझे एक सरल व्यक्ति समझते हैं।

६ वर्ष की आयु में मैंने एक शिक्षक के निर्देशन में विद्यारम्भ किया। एक वर्ष बाद मुझे मियादी बुखार हो गया। लगभग १ वर्ष पश्चात् मैं स्वस्थ हो सका। उस समय तक मैंने जो कुछ भी पढ़ा-लिखा था वह सब बीमारी में भूल गया। आज भी मुझें आश्चर्य होता है कि मैं सब कुछ कैसे भूल गया। मेरा मस्तिष्क एक कोरे स्लेट की भाँति हो गया था।

मेरा विद्यार्थी जीवन असफलताओं से भरा था। 'गणित' उनका मुख्य कारण था। मैंने अपना सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन बर्बाद कर दिया। मेरे शिक्षक मुझे कुछ गृह-कार्य दिया करते थे।

अंकगणित के प्रश्नों को मैं सदा टालने का प्रयत्न करता था। मैं अब अपने सम्बन्ध में एक मज़ेदार कहानी सुनाता हूँ। एक बार ऐसा हुआ कि मैंने गणित के प्रश्नों को नहीं किया था। मैंने सोचना आरम्भ किया कि 'मैं अब शिक्षक द्वारा पीटा जाऊँगा क्योंकि मैने प्रश्नों को नहीं किया है।' मार से बचने के लिए मैने दीवार की एक सुराख में, जिसमें बर्रे का छत्ता था, अपनी अंगुली डाल दिया ताकि वे काट लें। जब शिक्षक महोदय आये तो मैंने बताया कि बर्रे के काटने के कारण मैं सवालों को न कर सका। मैं सजा से बच गया। मगर मैं सच कहता हूँ कि शिक्षक की मार उतनी तकलीफदेह न हुई होती जितना कि बर्रे का डंक था। जब मैं १६ वर्ष का हुआ तो साहित्य के प्रति—अंग्रेजी, उर्दू तथा फारसी—मेरी रुचि हुई। भूगोल मेरा प्रिय विषय था। मैंने उस विषय की अनेकों पुस्तकें पढ़ डालीं। सच तो यह है कि उस समय तक मैं पढ़ने लिखने में बिल्कुल दिलचस्पी न रखता था।

हमारे हर कार्य में सच्चाई सर्वोपरि है। एक बार अपने विद्यालय के प्रांगण में मैंने एक रुपया पड़ा पाया। उसे मैने प्रधानाध्यापक को दे दिया कि वे जिसका रुपया हो उसे दे दें। वे खुशी से उछल पड़े और हमारी ईमानदारी की प्रशंसा प्रत्येक कक्षा में लिख भेजा। विद्यार्थी जीवन में मैं घोड़े पर स्कूल जाया करता था। उसे मेरे पिताजी ने मेरे लिए खरीदा था। घुड़सवारी में मैं बड़ी रुचि रखता था। घुड़सवारी का अभ्यास मैंने बिना किसी साईस की सहायता के ही किया था।

विद्याध्ययन के इसी काल में मेरा एक मित्र मेसमेरिज्म द्वारा लोगों की बीमारियाँ दूर करता था। मुझे उसमें दिलचस्पी मालूम हुई। मेसमेरिज़्म करने वालों के मूल बिन्दु (आधार) के सम्बन्ध में मैंने सोचना आरम्भ किया। मुझे पता चला कि वह और कुछ

नहीं केवल एकाग्रता तथा कोई कार्य करने के लिए विचारगर्भित शक्ति का आन्दोलित करना है। कुछ समय बाद हमारे एक सम्बन्धी मेरे पास आए और बताया कि वे भी मेसमेरिज़म के ज्ञाता थे। मैंने उनसे उस कला को सिखा देने के लिए प्रार्थना किया। परन्तु वे आसानी से सिखाने के लिए तैयार न थे। वे चाहते थे कि मैं उनकी सेवा पुरानी शिष्य-परम्परा के अनुसार करूँ। मैंने उनसे कहा कि "जब आप फिर कभी यहाँ आएंगे तो मैं बिना किसी अभ्यास के आपको मेसमेरिज़म सिखा दूँगा।" चूँकि मेरा मस्तिष्क दार्शनिकी हो चुका था और साथ ही साथ उसमें यथार्थपन भी आ चुका था अतः मैंने उसकी सहायता से रोगियों को अच्छा करना आरम्भ किया, यद्यपि किसी बहुत बड़े पैमाने पर नहीं। जब वे सम्बन्धी मेरे पास दुबारा आये तो मैंने उनसे कहा "जो मैं कर सकता हूँ आप नहीं कर सकते। यदि आप चाहें तो मेरी परीक्षा ले सकते हैं।"

मेरे अध्ययनकाल में एक बार मेरे प्रधानाध्यापक भीषण उदरशूल से पीड़ित थे। मैंने उनके हाथों के अँगूठों को पकड़ा और उन पर अपने अँगूठों को रखते हुए इस विचार के साथ कि "आप अब बिल्कुल अच्छे हैं" एक क्षण के लिए 'बिजली' दौड़ाया। शीघ्र ही दर्द बन्द हो गया और रोगी को नींद आ गई। उस दिन से यदि किसी विद्यार्थी को खेलते समय चोट लग जाती तो ठीक होने के लिए वह मेरे पास भेजा जाता।

मैं हाकी का एक अच्छा खिलाड़ी था और अपनी कक्षा की टीम का कप्तान भी था। एक बार छुट्टी के घन्टे में प्रधानाध्यापक ने खेल का सामान देने से इन्कार कर दिया। उसी दिन से सदा के लिए मैंने खेलना बन्द कर दिया।

अपने अध्ययन काल में मेरा यह सौभाग्य था कि मेरे

शिक्षकगण मुझे अत्यधिक प्यार किया करते थे और जब कभी भी आवश्यकता होती वे सहर्ष मेरी सहायता के लिए तत्पर रहते। चूँकि मेरी रुचि दर्शनशास्त्र में थी अतः मैं दर्शनसम्बन्धी विषयों पर लेख लिखा करता था। 'मस्तिष्क की गतिविद्या' उन लेखों की विशेषता थी। अंग्रेजी के शिक्षक दार्शनिक भी थे। उनको इस बात पर आश्चर्य भी होता कि ऐसे दार्शनिक विचारों का जिनका अध्ययन उन्होंने अपनी बी० ए० की कक्षाओं में किया था, मैं कैसे उल्लेख कर पाता था ! दार्शनिक चिन्तन ने हमें अपने वर्तमान आध्यात्मिक जीवन में योग सम्बन्धी शोध कार्य करने में अत्यधिक सहायता पहुँचाई है।

शोधकार्य के परिणामों को मैंने पुस्तकों, लेखों तथा पत्रों में दिया है। सीतापुर में एक अच्छी सभा में मैंने यह प्रस्ताव रखा था कि भारतीय सन्तों को योग पर शोध करना चाहिये जो अभी तक नहीं किया जा सका है।

शोधकार्य बहुत कठिन नहीं है। परन्तु लोग इसे कठिन समझते हैं। इसके लिए प्रथम शर्त तो यह है कि योगी उच्च क्षमता का हो जिसे अत्यन्त चैतन्यशीलता (Superconscious) की अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान एवं अनुभव हो। उसका चिन्तन सही होना चाहिये। चिन्तन भले ही थोड़ा हो पर सही अवश्य हो और हृदय संकेत द्वारा उसका समर्थन करे। उस कार्य के लिए दैवी यन्त्रों का पता लगाने की चिन्ता लोग नहीं करते। मस्तिष्क विचारता है। और हृदय उसके सही होने का संकेत देता है। हृदय विभिन्न प्रकार के संकेत देता है जिन्हें समझना जरा कठिन है। इसे सन्तोषपूर्वक व्यक्त करने के लिए अभी तक मुझे उपयुक्त शब्द नहीं मिल सके हैं। परन्तु यदि मनुष्य अभ्यास करे तो वह उसके स्वभाव को

जान लेगा। मैंने यह अनुभव किया है कि शरीर का हर अङ्ग स्वयं बोल उठता है यदि हम उस पर एकाग्रचित्त होते हैं। एकाग्रचित्तता केवल वैदी प्रकाशन के यन्त्रों (साधनों) में से एक यन्त्र है। आप एकाग्रचित्तता के द्वारा ईश्वर को नहीं 'पा' सकते। एकाग्रचित्तता में आप किसी वस्तु-विशेष के प्रति केन्द्रीभूत होते हैं लेकिन ध्यान में आपका अचेतन मन केवल किसी वस्तु के लिए प्रतीक्षामात्र करता है। चूंकि आपका चिन्तन ईश्वर के लिए है, आप ईश्वरीयता की प्रतीक्षा करते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि अंतःकरण ही उनका गुरु है और वे उसी का अनुसरण करते हैं। अंतःकरण वास्तव में मानस बुद्धि, चित्त तथा अहंकार से बना है। जब तक यह सभी शुद्ध नहीं कर लिए जाते और साम्य अवस्था में नहीं आ जाते, अन्तःकरण सच्चा उत्तर नहीं दे सकता। अतः मन की सभी शक्तियों में शुद्धता आवश्यक है। लोग इस पर शोध कार्य करने का प्रयत्न कर सकते हैं। मैं आपको एक बहुत अच्छी बात बताता हूँ। मान लीजिए कि आप किसी समस्या के हल के बारे में कुछ विचार कर रहे हैं और आप उस समय कुछ कम, पर सही, जानते हैं तो उसी विचार को आप अपने अचेतन मन में डाल दीजिए, समस्या हल हो जाएगी। उसके हल हो जाने पर उसका समर्थन भी आप प्राप्त कर सकते हैं। आप उस बिन्दु पर ध्यान जमाइए जहाँ वास्तविकता का सच्चा चित्र परिलक्षित होता है तो आपका हृदय पूर्णतः सन्तुष्ट हो जायेगा।

मैंने अपने बाल्यकाल में कुछ भविष्यवाणियाँ की थीं और वे सही निकलीं। पाठकों की दिलचस्पी के लिए बता रहा हूँ कि मनुष्य किस प्रकार सौ वर्ष बाद आने वाली घटनाओं की

भविष्यवाणी कर सकता है। सिर के बायें भाग में एक अतिचेतन स्थिति है जो हर प्रश्न का उत्तर देती है। मैंने इसकी व्याख्या अपनी पुस्तक "सहजमार्ग के प्रकाश में राजयोग का दिव्य दर्शन" ("Efficacy of Rajyoga in the Light of Sahaj Marg") में कर दिया था। जो कोई अपने विचारों को उस स्थान विशेष की ओर लगाकर आने वाली घटनाओं के विषय में चिन्तन करेगा, जान लेगा। पर चिन्तन स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। इच्छाशक्ति का कोई भी दबाव उस पर न डाला जाय। यदि दबाव डाला जाता है तो प्रयत्न अस्वाभाविक हो जाता है और परिणाम स्थूल। यह तरीका अत्यन्त शान्त ढंग से अपनाना चाहिए। उसके लिए पुण्यशीलता की भी आवश्यकता होती है।

———

२

युवावस्था-नौकरी

उन्नीस वर्ष की आयु में मेरा विवाह मथुरा शहर में हुआ और मुझे शीघ्र-क्रोध करने वाली स्त्री मिली। उसका नाम था 'भगवती'। सन् १८४८ के उत्तरार्द्ध में उसकी मृत्यु हो गई। उस समय मैं भी शीघ्र-क्रोध करने वाला व्यक्ति था। किन्तु उसकी संगति में मैंने सहनशीलता सीखी जिसने मुझे आध्यात्मिक कार्य में भी सहायता पहुँचाई। जब मैं मालिक के चरणों में गया, मेरा क्रोध धूमिल पड़ने लगा। अपनी डायरी में कई बार मैंने अपने क्रोध की शिकायत उनसे की। कुछ समय बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या क्रोध आने पर मेरी सुध-बुध खो जाती है? मैंने कहा "बिल्कुल नहीं।" उन्होंने भी अनुमोदन किया कि सुधबुध नहीं खोती थी। तब से क्रोध में भी मैं उचित रूप से व्यवहार करता हूँ।

अब मैं सभी विषयों में सफल होने का भेद बता रहा हूँ। संशयों को हटाइए और अपने में विश्वास उत्पन्न कीजिए तो आप अपने सभी कार्यों में सफल होंगे। सच तो यह है कि यदि कोई अपनी इच्छाशक्ति को भ्रष्ट करना चाहता है तो उसे अपने आप में संशय उत्पन्न कर लेना चाहिये। हर कार्य में सच्चाई एवं गम्भीरता अच्छा परिणाम लाती है। मैंने इन सब को बेकार समझकर छोड़ दिया और गहरी साँस सम्बन्धी क्रिया आरम्भ

किया जो मेरे मस्तिष्क को बहुत शान्त रखती थी। मैं साढ़े सात मिनट तक अपनी साँस रोक सकता था। लगभग ६ वर्षों तक मैंने इसका अभ्यास किया और अपने मालिक के चरणों में पहुँचने पर इसे बिल्कुल ही छोड़ दिया।

मुझे किसी प्रकार मालूम हुआ कि फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) में समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज एक अच्छे मार्ग-दर्शक थे। मैं शीघ्रातिशीघ्र वहाँ जाने के लिए उत्सुक हो उठा। ३ जून १९२२ को प्रातःकाल मैं उनके चरणों में जा पहुँचा। जब मैं उनके निर्देशानुसार ध्यान में बैठा तो मुझे एक अत्यन्त सन्तोष-प्रद अवस्था की प्राप्ति हुई। शीघ्र ही विचार उठा कि "मैंने गुरु पा लिया है।" पूर्वलिखित मेरे निर्णय ने मुझे विवश कर दिया कि मैं उन्हें अपना गुरु बना लूँ। वहाँ से लौटने पर मैंने अभ्यास जारी रखा किन्तु अधिक गम्भीरता पूर्वक नहीं क्योंकि मुझे मैट्रिक और एस० एस० एल० सी० परीक्षा देना था। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् १२ जनवरी १९२५ को शाहजहाँपुर के जजी कचहरी में मैंने नौकरी कर ली और १९५६ ई० में रेकार्ड-कीपर के पद से अवकाश ग्रहण किया। मेरे गुरु जी ने भी जो फतेहगढ़ की कलेक्टरी में नौकर थे, रेकार्डकीपर ही के पद से अवकाश ग्रहण किया था। मेरे अफसर लोग जिनकी मातहती में मैंने काम किया था, मेरे काम से अत्यन्त प्रसन्न रहते थे और मेरी ईमानदारी, सच्चाई तथा अच्छे कार्य के कारण मुझे अत्यधिक आदर देते थे। अपने सहयोगी लिपिकों के साथ मेरा व्यवहार असाधारणतया अच्छा था।

अपने जीवन में मैंने न्याय को सदा स्वलाभ से ऊँचा समझा। उदाहरणतः मेरा एक सहयोगी मुझसे दो ही चार दिन पूर्व नियुक्त हुआ था। कुछ वर्षों बाद हम दोनों विभिन्न खण्डों में

स्थानान्तरित कर दिये गये थे। कालान्तर में एक ही ग्रेड और पद पर हम दोनों की पुनः नियुक्ति हुई; किन्तु संयोगवश मेरा सहयोगी मुझसे दो चार दिनों बाद नई नियुक्ति पर जा सका। अतः नियमानुसार वह मुझसे जूनियर हो गया। और जब दूसरी तरक्की की जगह खाली हुई तब मेरे सहयोगी ने अपनी आरम्भिक नियुक्ति-तिथि के आधार पर अपील की कि उन्हें ही तरक्की मिलनी चाहिए। मेरे अफसर लोगों ने जिनकी रुझान मेरी ओर अधिक थी, इस सम्बन्ध में मुझे बुलाया। यद्यपि अपने निजी ठोस लाभ का वह एक सुअवसर था फिर भी मैंने उनसे सही बात कह दिया कि मेरा सहयोगी मुझसे सीनियर था, यद्यपि वह वर्तमान पद पर बाद में आया था। इसलिए उसे ही तरक्की मिलनी चाहिये। परिणामस्वरूप, उसे ही उच्चस्थान प्राप्त हो गया और वह मेरे प्रति अत्यन्त आदर भाव रखने लगा।

यदि कभी मैं किसी दफ़्तर सम्बन्धी मुसीबत में आ जाता तो सभी लोग, निम्नतम से उच्चतम तक, मेरे प्रति सहानुभूति रखते। यही नहीं, मेरे अफ़सर लोग भी बड़े सहायक थे। उनका मुझपर इतना अधिक विश्वास था कि जो भी मसविदा या 'आज्ञा' मैं तैयार करता, वे निस्संकोच उस पर हस्ताक्षर कर देते थे। मैं भी बड़ी सतर्कता और स्वामिभक्ति के साथ उन आज्ञाओं को तैयार किया करता था।

एक बार ऐसा हुआ कि एक लिपिक ने जाति-ईर्ष्या वश मुझे इतना तंग किया कि मैंने नौकरी से स्तीफा देना निश्चय कर लिया। मैं उस नई जगह पर प्रथम बार नियुक्त हुआ था और तत्सम्बन्धी कार्य की जानकारी मुझे नहीं थी। वह मुझे जरा भी सहायता नहीं देता। उल्टे वह मुनसफी के मुनसरिम से मेरी हमेशा शिकायत ही करता। परिणामतः मैं मुनसिफ के पास गया,

उनको सारी बातें बताई और नौकरी से स्तीफा देने का इरादा भी बताया।

श्री महाराज बहादुर मुनसिफ ने कहा "जबतक मैं यहाँ हूँ आप पद-त्याग न करें। मैं स्वयं आपको कार्य सिखा दूँगा क्योंकि मुझे आप जैसा ईमानदार आदमी नहीं मिलेगा।" और उन्होंने वैसा ही किया। इस प्रकार उनसे प्रोत्साहित हो मैंने नियमों एवं व्यवस्थाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया और कुछ अन्य कार्य भी सीखे। ईमानदारी ही अन्त में लाभ कराती है; बेइमानी तो केवल आरम्भ में—वह भी शायद ही!

एक माह के कठिन परिश्रम ने मुझे अपना कार्य सुचारु रूप से करने के योग्य बना दिया। मैंने अपनी कठिनाइयों का जिक्र अपने पिताजी से भी कर दिया था और उनसे यह भी कह दिया था कि "मैं इस पद से स्तीफा देना चाहता हूँ। यदि आप मुझे इसकी स्वीकृति न देंगे तो मैं आत्महत्या कर लूँगा।" मेरे पिताजी ने कहा कि "शीघ्र ही नौकरी छोड़ दो।" पर अपने अफसर के प्रोत्साहन के कारण मैं नौकरी करता रहा। शिकायत करने वाले उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई वैमनस्य न था और मेरा व्यवहार भी उसके प्रति कभी बदला नहीं। दूसरे शब्दों में, मैं उसके साथ कुछ प्यार भरा व्यवहार भी करता था। लोग मुझे सीधा-सादा व्यक्ति समझते हैं। मेरे विचार से उनका वैसा समझना ठीक है। बात यहाँ तक बढ़ गई थी कि मैं आत्महत्या तक करने के लिए तैयार था किन्तु मैने अपना व्यवहार कभी नहीं बदला। मेरे व्यवहार में प्यार का भी पुट था क्योंकि मेरा यह ध्येय है कि "यदि मेरे प्रति कोई अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता है तो मैं उसके प्रति अपना कर्तव्य क्यों छोड़ दूँ?" दूसरे शब्दों में, यदि कोई अपने कर्तव्य पालन में कमी करता है तो मैं उसके प्रति अपने कर्तव्य-

पालन में क्यों कमी करूँ ? **जो कुछ मैं आपके लिए करता हूं वह मेरा कर्तव्य है ; जो आप मेरे लिए नहीं करते हैं वह आपका कर्तव्य है ।** यह मेरा स्वभाव ही है कि यदि कोई मेरे लिए तनिक भी उपकार करता है तो मैं उसे भरसक चुकाने का प्रयत्न करता हूँ उसके बावजूद भी उनके प्रति मेरी कृतज्ञता पूर्ववत् ही बनी रहती है ।

मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि उस पर ईश्वरीय प्रकोप की बिजली गिरी और उसके कुटुम्ब में कोई नहीं बचा । उसके मृत्योपरान्त मैंने उसके पुत्र को, जो जजी कचहरी का एक कर्मचारी था, हर प्रकार की सहायता पहुँचाई, किन्तु उसकी भी मृत्यु हो गई । लोग अपने अल्पकालीन जीवन में ईश्वरीय दण्ड की परवाह किये बिना हर प्रकार की बेढंगी चीजें किया करते हैं । मेरे अफ़सरों ने मेरे चरित्र लेखा (Character Roll) में निम्नांकित टिप्पणियाँ अंकित किया था :—

१. "मैं उनके काम से सन्तुष्ट था । वे एक शान्त पुरुष हैं तथा अपने काम में अच्छे हैं ।" (२ सितम्बर, १८२८)

२. "वे सुयोग्य और परिश्रमी हैं । अपने कार्य से उन्होंने मुझे पूरा सन्तोष प्रदान किया है । अपनी सच्ची ईमानदारी के लिए उनकी एक स्पृहणीय प्रसिद्धि है ।"

(५ जनवरी, १८४८)

३. "उनका मुनसरिम सम्बन्धी कार्य बिल्कुल सन्तोषप्रद रहा है । वे एक सतर्क एवं बड़े परिश्रमी कर्मचारी हैं और साधारणतया अत्यन्त ईमानदार समझे जाते हैं ।"

(६ जुलाई, १८४८)

४. "योग्य तथा सरल; अपनी कड़ी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं ।"

५. "वे एक पवित्र जीवन यापन में विश्वास रखते हैं और अपने सरकारी जीवन में भी उसी सिद्धान्त पर चलते हैं।" (३ जुलाई, १८५३)

६. "एक विनीत तथा शान्त कर्मचारी हैं जिनके पवित्र संत जीवन की बहुत अच्छी प्रसिद्धि है।"
(१७ जनवरी, १८५५)

७. "उनका एक अत्यन्त पवित्र जीवन है। अपने प्रतिदिन के कार्यों में वे अपने उच्च सिद्धान्तों पर चलते हैं और अपने रेकार्डकीपर के कर्तव्यों में अत्यन्त जागरूक रहते हैं। रेकार्डरूम पर उनका पूरा नियन्त्रण था और मै उनके कार्य से अत्यन्त सन्तुष्ट था। (२१ फरवरी, १८५५)

८. अवकाश प्राप्त करने पर :—उन्होंने "ईमानदारी तथा संयमित जीवन के लिए एक स्पृहणीय ख्याति प्राप्त किया है। बड़े परिश्रम एवं लगन के साथ पर बड़े विनीत ढंग से कार्य किया जो मेरे विचार में लिपिक वर्ग—जो अब उनके अवकाश ग्रहण करने से निर्धन सा हो गया है—के लिए एक आदर्श का काम दे सकता है।"

श्री ए० जी० खरे, अध्यक्ष, प्रान्तीय भारत सेवक समाज, से भी मुझे एक प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा का पत्र प्राप्त हुआ था।

३

गुरु के चरणों में

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मैं ३ जून, १९२२ को, प्रथम बार, प्राणाहुति प्राप्त करने के लिए अपने गुरु के चरणों में पहुँचा। उसके प्रभावानुसार मुझे ऐसा लगा कि मैं एक ऐसे स्तर पर पहुँच गया था जहाँ का वातावरण बाह्य वातावरण से अत्यधिक भिन्न था। यह भाव बना रहा और मैं कई दिनों तक उसी अवस्था में पड़ा रहा। मैंने श्री रामचन्द्र मिशन द्वारा प्रतिपादित हृदय में ईश्वरीय प्रकाश पर नहीं वरन् अपने मालिक के रूप पर ध्यान आरम्भ किया। यह बिल्कुल स्वेच्छानुरूप एवं अपने आप था और मैं वैसा ही करता रहा।

एस० एस० एल० सी० और मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद मैंने शुद्ध हृदय से ध्यान प्रणाली को अपनाया। ६ महीने में देखा कि मेरा सम्पूर्ण हृदय एक शान्त प्रकाश से भर गया था और प्रकाश का एक पौधा अपने सभी टहनियों एवं पत्तों से प्रकाश फेंक रहा था। मैने अभ्यास जारी रखा। ६ मास के पश्चात् मैंने अपने हृदय में एक विचित्र बात का अनुभव किया कि मेरा हृदय "ॐ" शब्द का पाठ कर रहा था। इसे हम 'अजपा' कहते हैं। यह कैसे आरम्भ होता है ? यदि मालिक अपनी ईश्वरीय शक्ति द्वारा उसे प्रविष्ट करता है तो वह शीघ्र ही आरम्भ हो जाता है। यदि यह अभ्यासी पर छोड़ दिया जाता है तो आरम्भ होने पर हृदय को यह दो या तीन बार हिला देता

है। शरीर के सभी कणों में भी यह आरम्भ हो जाता है जिसे हम 'अनहत' कहते हैं। कुछ लोगों ने हृदय में बारंबार मन्त्रों का जाप करके अजपा का अभ्यास किया है। यह अस्वाभाविक है। कुछ समय के लिए यदि जप का अभ्यास छोड़ दिया जाय तो अजपा गायब हो जाता है। अजपा की सच्ची स्थिति का प्रवेश तभी सम्भव है जब गुरु में प्राणाहुति की शक्ति हो। केवल प्राणाहुति ही वह वस्तु है जो अभ्यासी को उच्चतर क्षेत्रों तक ले जाती है। स्वयं का प्रयत्न तो किसी क्षेत्र तक पहुँचने के बाद असफल हो जाता है। यह इसलिए कि ज्यों-ज्यों अभ्यासी ऊपर चढ़ता है वह अति सूक्ष्म ईश्वरीय शक्ति के सम्पर्क में आता है और वह अभ्यासी को नीचे की ओर ढकेलती है क्योंकि वह उस तक नहीं पहुँच सकता। वहाँ के लिए तो एक ऊँची योग्यता के गुरु की आवश्यकता है, जिसका मण्डलों पर अधिकार हो।

जब अजपा आरम्भ हुआ तो मुझे इस पर इतना अधिक गर्व था कि मैंने अपने मालिक से कहा "अब मैं अजपा पा गया हूँ।" बच्चा एक खिलौना पाने पर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है उसकी खुशियाली भी आगे बढ़ती जाती है। मेरे साथ भी वैसी ही बात थी। जब मेरे मालिक ने मुझे ज्ञान दिया तब पता लगा कि मुझे तो अभी अगाध समुद्र तैरना है।

१९२४ में मुझे ऐसा लगा था कि प्रत्येक चेतन एवम् अचेतन वस्तु और कण में एक सर्वव्यापी शक्ति विद्यमान थी। मैं आश्चर्य सागर में डूब गया था। मुझे ईश्वर हर वस्तु में सूर्य के प्रकाश की भाँति व्याप्त मालूम हुआ।

उच्चतर अवस्थाओं की तुलना में यह सब ईश्वरीयता का

के लिए अपने को व्यवस्थित करना आरम्भ किया। यह मेरी कोई कोरी धारणा मात्र नहीं थी कि मैं उस अवस्था में था वरन् सच-मुच मेरे अन्दर कुछ असली चीज जागृत होना आरम्भ हो गई। मैं चुपचाप बिना अपने मालिक को बताये हुए भी वह सब करता रहा।

प्रथम बार जब मालिक ने मुझे प्राणाहुति दिया था उसी दिन से मुझमें उनकी याद जागृत हो उठी। इस प्रकार मैंने उनकी याद तीन चीजों के साथ बराबर बनाये रखा—मालिक का सतत स्मरण; मालिक की लय अवस्था लाने के लिये अपने आप को व्यवस्थित करना; और उस समय जिस क्षेत्र में मैं था उसमें क्या हो रहा था उसे जानना तथा अनुभव करना।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ मैंने हृदय में उनके रूप पर ध्यान करना आरम्भ किया। प्रारम्भ में वह रूप दृष्टि में रहता है पर कुछ समय बाद वह धूमिल पड़ने लगता है और केवल एक पर-छाईं या आकार मात्र रह जाता है। कुछ समय बाद वह भी धीरे-धीरे गायब हो जाता है और केवल उसका एक विचारमात्र ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त मैं अपने सम्मुख उनके पूरे रूप पर ध्यान किया करता था। बाद की अवस्थाएँ भी उसी क्रमानुसार हैं। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद रूप सूक्ष्मतर हो जाता है और फिर धीरे-धीरे अपने स्थान पर केवल उसके एक विचार मात्र को छोड़कर लुप्त होने लगता है। जब वह विचार भी लुप्त हो जाता है तब अभ्यासी को केवल कल्पना मात्र कर लेना चाहिए कि वह वहाँ मौजूद है। बाद में जब वह कल्पना भी गायब हो जाती है तो दूसरी अवस्था का आगमन होता है; परन्तु इसे स्वयमेव स्वाभाविक रूप से आना चाहिए, इच्छित प्रयत्न से उस अवस्था को पैदा करके नहीं। इस अवस्था में अभ्यासी अपने आपको

के लिए अपने को व्यवस्थित करना आरम्भ किया। यह मेरी कोई कोरी धारणा मात्र नहीं थी कि मैं उस अवस्था में था वरन् सच-मुच मेरे अन्दर कुछ असली चीज जागृत होना आरम्भ हो गई। मैं चुपचाप बिना अपने मालिक को बताये हुए भी वह सब करता रहा।

प्रथम बार जब मालिक ने मुझे प्राणाहुति दिया था उसी दिन से मुझमें उनकी याद जागृत हो उठी। इस प्रकार मैंने उनकी याद तीन चीजों के साथ बराबर बनाये रखा—मालिक का सतत स्मरण; मालिक की लय अवस्था लाने के लिये अपने आप को व्यवस्थित करना; और उस समय जिस क्षेत्र में मैं था उसमें क्या हो रहा था उसे जानना तथा अनुभव करना।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ मैंने हृदय में उनके रूप पर ध्यान करना आरम्भ किया। प्रारम्भ में वह रूप दृष्टि में रहता है पर कुछ समय बाद वह धूमिल पड़ने लगता है और केवल एक पर-छाईं या आकार मात्र रह जाता है। कुछ समय बाद वह भी धीरे-धीरे गायब हो जाता है और केवल उसका एक विचारमात्र ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त मैं अपने सम्मुख उनके पूरे रूप पर ध्यान किया करता था। बाद की अवस्थाएँ भी उसी क्रमा-नुसार हैं। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद रूप सूक्ष्मतर हो जाता है और फिर धीरे-धीरे अपने स्थान पर केवल उसके एक विचार मात्र को छोड़कर लुप्त होने लगता है। जब वह विचार भी लुप्त हो जाता है तब अभ्यासी को केवल कल्पना मात्र कर लेना चाहिए कि वह वहाँ मौजूद है। बाद में जब वह कल्पना भी गायब हो जाती है तो दूसरी अवस्था का आगमन होता है; परन्तु इसे स्वयमेव स्वाभाविक रूप से आना चाहिए, इच्छित प्रयत्न से उस अवस्था को पैदा करके नहीं। इस अवस्था में अभ्यासी अपने आपको

मालिक की तरह समझने लगता है। यदि वह काफी सूक्ष्मग्राही है तो उसे ऐसा लगने लगता है कि उसके शरीर के अंगप्रत्यंग सभी उसके मालिक के हैं। यहाँ फिर मैं वही चेतावनी दोहराता हूँ कि इसे भी स्वाभाविकतया एवं स्वतः पैदा होना चाहिए, इच्छित प्रत्यनों द्वारा नहीं। यदि अभ्यासी सही ढंग से आगे बढ़ता है तो शरीर का ख्याल भी शीघ्र ही गायब होना आरम्भ हो जाएगा।

वह यह अनुभव करना आरम्भ करेगा कि शरीर न तो उसका है और न ही उसके मालिक का। परन्तु फिर भी उसका यह विचार रहना चाहिए कि उसका यह शरीर मालिक का ही शरीर है। जब वह विचार गायब हो जाता है तो उसे कल्पना करना चाहिए कि स्वयं वही मालिक है। अन्त में, जब वह कल्पना भी फीकी पड़ जाती है तो वह प्रक्रिया उसे तीसरी अवस्था में लाएगी और वह है "आत्मा का मालिक में होना।" वह स्वतः सारे क्रमों को पूर्णता प्रदान करेगी जिसके बाद शरीर अथवा आत्मा का विचार भी नहीं रह जाता। वह अब कहीं नहीं है, और वास्तव में कार्य की इतिश्री हो जाती है। जब मैं आत्मा पर ध्यान करने की इस अन्तिम अवस्था में था तो एक स्वप्न में मेरे मालिक ने मुझको स्वयं आत्मा पर ध्यान करने की आज्ञा दी। उन्होंने उसका तरीका भी बताया जो निम्नांकित है :—

"बिस्तर पर बिना हिले-डुले चित्त लेट जाओ और कुछ समय तक आत्मा पर ध्यान करो।"

मैंने इसे पूरे एक मास तक किया। अधिक से अधिक समय देने के लिए दफ़्तर से छुट्टी ले लेता था। वह वास्तव में मेरे मालिक की ही कृपा का फल था कि यह तरीका अपने आप मेरे मस्तिष्क में आ गया—प्रत्येक पग स्वयं अगले कदम की सूचना देता।

मेरे गुरुजी ने किसी को अपने रूप पर ध्यान करने के लिए नहीं कहा था, और मुझे गर्व है कि मैं ही अकेला व्यक्ति था जिसने इस तरीके को अपनाया था। यद्यपि बहुत से लोग ऐसे भी थे जो यदा-कदा उनकी याद कर लिया करते थे। इस सम्पूर्ण क्रियाविधि को पूरा करने के बाद मैंने निषेध के निषेध की स्थिति को लाने का विचार किया। मैंने उसे आरम्भ भी कर दिया था। उस समय मुझ पर मालिक की कृपा मूसलाधार बरस रही थी। तुरन्त बाद ही मेरे मालिक ने मुझे बताया कि चूँकि मैंने अन्तिम तरीका आरम्भ कर दिया था इसलिए वे मुझे कार्य देने के लिए विवश थे, अन्यथा वे वैसा करने के लिए कुछ और अधिक समय लेते। यदि ऐसा न हुआ होता तो दूसरों को प्रशिक्षित करना मेरे लिए सम्भव न होता। अस्तु, यह बाद में आयेगा। अपने अभ्यास के दरमियान मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ कि संसार की प्रत्येक वस्तु ईंट, पत्थर, फूल, पत्ते सभी चारों ओर ईश्वरीय शक्ति बिखेर रहे हैं; और मेरी दिलचस्पी एवं भक्ति इतनी तीव्र हो उठी कि मैंने काँटों को भी प्यार से गले लगा लेना चाहा। यह हालत अनुमानतः लगभग एक सप्ताह तक रही। तब एक अन्य अवस्था खुली जिसका वर्णन अधिकतर मैंने अपनी पुस्तक "अनन्त की ओर" में किया है। इसके पश्चात अनेकों अन्य घटनाएं भी घटीं जिन्हें पत्रों द्वारा समय-समय पर मैं अपने मालिक को सूचित कर देता था। उन्होंने भी हमारे कुछ पत्रों का उत्तर दिया।

१५ अगस्त सन् १९३१ को प्रातः मैंने अपने अन्दर और बाहर एक अत्यन्त प्रबल शक्ति का अनुभव किया जिसे मेरे अर्न्तध्वनि ने विश्वास दिलाया कि वह मेरे मालिक द्वारा दी गई थी। मेरे मालिक ने १४ अगस्त १९३१ की रात्रि में महासमाधि लिया था जिसका उस समय तक मुझे पता भी नहीं था। सुयोग्य

सन्तों द्वारा शक्ति के स्थानान्तरण करने का यह आम तरीका था। वास्तव में, यह मालिक का मुझमें लय हो जाना था।

जब मैं सन्ध्या समय अपने कार्यालय से वापस लौटा तो मेरी चचेरी बहन ने मुझे गुरुजी के देहावसान की दर्दनाक खबर सुनाई। इससे मुझे एक भयंकर धक्का लगा और इस धक्के का प्रभाव वर्षों तक रहा। यह अब भी मौजूद है–कुछ कम मात्रा में। मैंने मातमपुरसी (शोक प्रकाशन) के लिए कार्यालय से छुट्टी ले लिया। लेकिन एकाएक मुझे दस्त आने लगा। पूरी छुट्टी बीमारी में बीती। बीमारी अन्त में हैजा बताई गई। महीनों बाद तक दस्त होता रहा। हैजा से मुक्त होने पर मैंने एक दिन सात बजे प्रातः उन्हें स्वप्न में देखा। उन्होंने मुझसे पूछा–"दस्त का क्या हाल है ?" मैंने कहा "वह अब भी चल रहा है।" उन्होंने आज्ञा दी कि मैं एलोपैथी दवा बन्द कर दूँ। मैंने उसी समय से बन्द कर दिया। फिर उन्होंने मुझसे पूछा–"आपकी आध्यात्मिक अवस्था कैसी है ?" मैंने उत्तर दिया "यह तो आप ही जानते हैं।" मेरे कहने का तात्पर्य था कि यह उनकी जिम्मेवारी थी। उन्होंने कहा "क्या ऐसा है ?" मैंने कहा "हाँ मेरे मालिक !" पुनः उन्होंने मुझे प्राणाहुति का एक झटका सा दिया। मुझे ऐसा लगा कि मेरा सम्पूर्ण शरीर सिर से पैर तक आध्यात्मिक शक्ति से भर उठा था। जब उन्होंने दूसरा झटका दिया तो मेरा हृदय लगभग फटने वाला था और हृदय में मुझे अत्यधिक पीड़ा महसूस हुई। एक तीसरा झटका मेरी जीवन-लीला समाप्त कर देता। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राचीन काल के ऋषिगण जंगल में वर्षों तक तपस्या करते थे, अपना सभी कुछ आध्यात्मिकता की वेदी पर त्याग कर ! मैं बिना मूल्य उसे प्राप्त कर रहा था। मैंने एक दूसरे ढंग से अपनी इच्छा प्रकट की। मैंने कहा "मेरे मालिक ! मेरी मृत्यु

भी हो जाए तो मुझे कोई चिन्ता नहीं।" जब उन्होंने यह सुना तो वे स्तम्भित हो उठे और प्राणाहुति बन्द कर दिया।

अब मैं यहाँ उस प्राणाहुति के प्रभाव का वर्णन करता हूँ। मैंने अनुभव किया कि वे कई दिनों तक मेरे शरीर के प्रत्येक कण में तथा रोम-रोम में विद्यमान थे। यह कुछ समय तक चलता रहा। यह एक उच्चावस्था है जिसके लिए सन्त लोग लालायित रहते हैं। यह मालिक में पूर्ण लय अवस्था दर्शाती है।

मैं अपने मालिक को अपनी हालत लिखा करता था, पर उन पत्रों की प्रतिलिपियाँ नहीं रखता था। जब उन्होंने अपने शिष्यों को अपनी आध्यामिक अवस्था एक दैनन्दिनी में लिखने की आज्ञा दी तो मैंने उसकी एक प्रतिलिपि भी रखना आरम्भ किया, जो अब आगे अंकित किया जाएगा।

४

१९२८

दैनन्दिनी का प्रमुख उद्देश्य यह है कि अभ्यासी अपनी दशा के प्रति जागरूक रहे क्योंकि उसे उसके विषय में लिखना है। जब अभ्यासी उसके प्रति जागरूक रहता है तो एकाग्रता के कारण उसका अनुभव उन्नति करता है। एकाग्रता ईश्वरीय प्राकट्य के लिये एक दैवी साधन है। लोगों की यह धारणा है कि एकाग्रता की अनुपस्थिति में ध्यान व्यर्थ है। मैं बलपूर्वक कह सकता हूँ कि एकाग्रता के द्वारा कोई ईश्वर को कभी नहीं 'पा' सकता क्योंकि एकाग्रता में हम एक-धुरी हो जाते हैं और किसी वस्तु की प्रतीक्षा नहीं करते। लेकिन ध्यान में हम किसी वस्तु की प्रतीक्षा करते हैं, और वह है ईश्वर। निरन्तर प्रयत्न करने के कारण प्रतीक्षा अपने आप एक प्रकार का आकर्षण प्रकट करती है।

यह आकर्षण इस सीमा तक बढ़ जाता है कि आप किसी भी आत्मा को अपने पास बुला सकते हैं। यदि आकर्षण चरमसीमा तक पहुँच जाता है तो महानतम आत्मा भी आने से इन्कार नहीं कर सकती। ईश्वरीयता के अभाव में मनुष्य को अपनी शक्ति का ज्ञान भी नहीं होता। उसके प्रतिकूल कुछ अवश्य होगा। इसलिए हम अपने में ईश्वरीयता इस सीमा तक विकसित करते हैं कि अन्त में सम्पूर्ण शरीर ईश्वरीय हो जाता है। अर्थात्, संक्षेप में, सभी इन्द्रियाँ अपनी मूलावस्था में पहुँच सकें। दूसरे शब्दों में, उच्चतर

केन्द्र, निम्नतर केन्द्रों को अपने संरक्षण में ले लेते हैं और उनमें कार्य करना आरम्भ कर देते हैं। यही नहीं, दैवी केन्द्र उच्चतर केन्द्रों को संरक्षण में ले लेते हैं। ज्यामिति विधि से निम्नतर केन्द्र उच्चतर केन्द्र के संरक्षण में हो जाते हैं और चूँकि दैवी केन्द्र अब उच्चतर केन्द्रों के संरक्षण में हैं अत: निम्नतर केन्द्र दैवी केन्द्रों के संरक्षण में आ जाते हैं। इस प्रकार दैविकता पूरे विस्तार के साथ कार्य करना आरम्भ करती है।

यह सब आसानी से उपलब्ध हो सकती है यदि हम किसी प्रकार सुयोग्य मालिक को प्राप्त कर लें। सुयोग्य मालिक तो वह है जो किसी अभ्यासी में प्राणाहुति द्वारा पूर्ण परिवर्तन ला सके। मालिक स्वयं ईश्वर में लय हो गया हो। वही वास्तव में मालिक है। यदि हमें ऐसा मालिक मिल जाय तो वर्षों की बचत हो जाती है। लोग कहेंगे कि ऐसा गुरु मिलना अत्यन्त कठिन है। लेकिन मैं कह सकता हूँ कि एक योग्य शिष्य का मिलना भी उतना ही कठिन है।

यदि मैं यहाँ अपने प्रिय वाक्य को दोहराऊँ तो विषयान्तर न होगा—"आकांक्षी की सच्ची पुकार गुरु को उसके द्वार तक ला देती है।" हम लोग ऊपर से नीचे आए हैं। अब हम ऊपर की ओर जा रहे हैं। अत: हम प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों के निकट पहुँचते हैं और शिष्य के लिए उन तक पहुँचना सरल नहीं है। वहाँ तो निश्चय ही गुरु की आवश्यकता होती है। यदि कोई किसी प्रकार स्वयं अपने प्रयत्न से किसी अवस्था विशेष तक पहुँचता है और उसके ऊपर जाने में असमर्थ होता है तो एक प्रकार की ठोसता, या आउसपेन्सकी (Ouspensky) के कथनानुसार, एक वक्रता बन जाती है। आउसपेन्सकी (Ouspensky) के पूर्व मालिक ने भी ऐसा ही कहा था।

अपने श्रद्धेय गुरु के चरणों में उत्तरोत्तर बदलती हुई दशाएं मेरी दैनन्दिनी में, जब से मैंने उसे आरम्भ किया, लिख दी गई हैं। मैं प्रत्येक अवस्था की तिथियों का अधिकतर उल्लेख न कर संक्षेप में लिख रहा हूँ। एक लेखक कहता है "यदि कोई अपनी आध्यात्मिक अवस्था जानना चाहता है तो वह अपने स्वप्नों द्वारा उन्हें भलीभाँति देख सकता है। यदि उसके विचार पवित्र हैं तो उसके स्वप्न भी सुन्दर होंगे और वह उसी प्रकार के स्वप्न देखेगा।" अतएव,हर जगह पवित्रता आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में हमारे सहज-मार्ग प्रणाली में सफाई के भी उपाय दिये गये हैं और मालिक ने इस पर काफी बल दिया था। तिरुपती के डा० के० सी० वर्दाचारी ने कहीं पर कहा है कि थोड़ा बहुत जैन धर्म के अतिरिक्त सफाई की प्रणाली कहीं अन्यत्र नहीं मिलती। हृदय के पवित्र हो जाने पर मनुष्य स्वप्न देखता है जब विचार कण्ठ-चक्र के सम्पर्क में आता है। यह स्थूल रूप में माया का स्थान है। इसका ज्ञान मुझे इस प्रकार हुआ : एक बार मैं सो रहा था और मेरी माँ ने मुझे एकाएक जगा दिया। मैंने अपने को उस समय कंठ-चक्र में पाया। यदि कोई व्यक्ति कंठ-चक्र में जाने का अभ्यास करता है तो वह जागृत अवस्था में भी स्वप्न देख सकता है। अमेरिका के एक डाक्टर का कथन है कि दिन में जो विष (Toxins) हममें एकत्रित होते हैं, रात्रि में स्वप्नों द्वारा वे खत्म कर दिए जाते हैं।

जब मैं हृदय-क्षेत्र में था तो सप्ताह में कम से कम तीन बार अवधूत सन्तों को देखा करता था। मनुष्य कभी-कभी उस प्रकाश से, जो वह देखता है, अथवा अपनी उस समय की स्थिति से मोहित एवं प्रभावित हो जाता है वह उससे अलग होना नहीं चाहता और उसी अवस्था में डूबा रहता है। यह तरक्की के किसी स्तर पर हो सकता है। यदि कोई अवधूत-सन्त प्राणाहुति देता

है तो उसे पूर्ण प्राणाहुति देना होता है जिसका परिणाम यह होता है कि अभ्यासी स्वयं अवधूत बन जाता है। पर, सहज-मार्ग प्रणाली में अवधूत गति के लिए कोई स्थान नहीं क्योंकि इसमें आरम्भ से ही हम सभी वस्तुओं में समभाव लाते हुए चलते हैं। इसके अतिरिक्त, यह तो एक विशुद्ध अप्राकृतिकता है जिसका सहज-मार्ग प्रणाली में प्रवेश नहीं।

हृदय-क्षेत्र की यात्रा समाप्त करने के बाद मैं उस क्षेत्र में पहुँचा जो सूक्ष्म है। मैं अन्य सन्तों—गृहस्थ तथा विरक्त—दोनों को, मेरे अन्दर सूक्ष्म स्थिति पैदा करते हुए देखा करता था। अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के पूर्व वैसी ही हालत बनी रहती थी।

ध्यान के बीच, जैसा कि मैंने अपनी दैनन्दिनी में लिखा है, मैं एक विचित्र प्रकार की स्थिति महसूस करता था जो अधोलिखित शेर से स्पष्ट हो जायगा :—

"सर रहे शक्तियार में, सजदा वो सजदा ही नहीं ।

बन्दगी और बकैदे होश कुफ्र है, बन्दगी ही नहीं ॥"

अर्थात्, प्रार्थना में सिर का झुकाना तथा उस पर नियन्त्रण बनाए रखना, कोई प्रार्थना नहीं। समर्पण का ख्याल यदि बना रहे तो वह कोई समर्पण नहीं।

जब आप गुरु के पास आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए जाते हैं तो साधारणतया आपको विश्वास रहता है कि वे आपके कुछ काम आ सकते हैं। जब आपको अनुभव हो जाता है तो उनके प्रति श्रद्धा पैदा होती है। आज्ञाकारिता अपनी चरम सीमा पर आत्म-समर्पण बन जाती है। आत्म-समर्पण की स्थिति की उपलब्धि कैसे हो सकती है? साक्षात्कार जिनका ध्येय है उनके लिए यह

एक साधारण प्रश्न है। समर्पण का अर्थ 'मैं' का न होना, अथवा दूसरे शब्दों में, 'मैं' पन का विचार बिल्कुल धो देना है। इसके लिए सबसे आसान तरीका यह है कि लगभग हर समय भक्ति एवं श्रद्धा के साथ हम ईश्वर पर निर्भर रहने का भाव बनाये रखें। यदि हम समर्पण के लिए प्रयत्न करते हैं तो 'मैं' विद्यमान रहता है और वह उत्तरोत्तर मजबूत होता रहता है। इस प्रकार जल में कूदने का प्रयत्न करने के बजाय हम आग में कूद पड़ते हैं। अब मेरी आध्यात्मिक दैनन्दिनी के उद्धरणों पर दृष्टि डालिए:

४ अप्रैल १९२८

मैं प्रातःकाल ध्यान में बैठा और बड़ी शान्ति एवं निश्चलता का अनुभव किया। शान्ति का अनुभव होता और फिर शान्ति अपने मूलावस्था को लौट जाती। अत्यन्त निश्चलता की अवस्था में कविता की एक पंक्ति का स्मरण हो आया :

"कब तक यह कली इस पर्दे के पीछे छिपी रहेगी !"

तब और कुछ हुआ, जिसके बाद मुझे केवल अन्तिम शब्द ही स्मरण रहे : "ईश्वर की कृपा एवं दयालुता उतरेगी।"

५ अप्रैल, १९२८

मस्तिष्क शान्त था और लगभग अपरिवर्तनशील अवस्था थी। रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं मक्का में पैगम्बर मुहम्मद की पवित्र मजार देखने गया। वहाँ मैंने अपनी त्रिकुटी के ऊपर कम्पन का अनुभव किया। साथ ही साथ एक प्रकार की शक्ति का भी, जिसका सम्बन्ध मेरे सिर से था।

जब मैं अपने मालिक के पास जाया करता था तो लोग उनके पास

साक्षात्कार (ईश्वर-प्राप्ति) के लिए आया करते थे। अब अधिकतर जो लोग मेरे पास आते हैं वे केवल शान्ति चाहते हैं। समय ने ऐसा परिवर्तन ला दिया है। सभी जगह बेचैनी छाई हुई है। प्रत्येक व्यक्ति शान्ति का भूखा है। कठिनाई तो यह है कि कोई यह नहीं जानता कि शान्ति क्या है ? एक व्यक्ति जो प्रतिदिन ईश्वर की पूजा करता है, यदि किसी कारणवश एक दिन प्रातःकाल पूजा नहीं कर पाता है तो उसे बेचैनी हो जाती है और जब वह पूजा कर लेता है तो उसे सन्तोष हो जाता है। लोग सन्तुष्टता को शान्ति समझते हैं। अतः वे शान्तिमय न होकर केवल सन्तुष्ट होते हैं। वास्तव में, बेचैनी विश्राम या शान्ति से आती हैं जो अपने लिए ईश्वरीयता तक का मार्ग प्रशस्त कर लेती है। शान्ति वह वस्तु है जिसकी हमें चाह है और बेचैनी उसकी प्राप्ति का साधन है जिसका हम प्रयोग करते हैं। बेचैनी से हमें जो प्राप्त होता है वह शान्ति है। बेचैनी हमें ईश्वरीयता की ओर बढ़ने में सहायक होती है।

शान्ति की अवस्था निद्रित सी है और सन्तुष्टि की अवस्था क्रियाशील-शान्ति अपनी चरमावस्था पर अशान्ति-शान्ति हो जाती है और सन्तुष्टि अपनी चरमावस्था पर ठोस एवं भारी हो जाती है। शान्ति ईश्वर के शान्त पक्ष को छूती है और सन्तुष्टि ईश्वर के क्रियाशील भाग को छूती है यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं तो क्रियाशीलता अवश्य होनी चाहिए। सन्तुष्टि मनुष्य की उपज है जब कि शान्ति ईश्वर की उपज है।

६ अप्रैल, १९२८

प्रातःकाल काम का कुछ प्रभाव मालूम हुआ। शेष अवस्था पूर्ववत् बनी रही।

मनुष्य के लिए काम से बढ़कर महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं है। सभी धर्मशास्त्रों में काम की व्याख्या विभिन्न रूप से की गई है परन्तु उसका वास्तविक रूप कुछ और ही है। शक्ति का प्रथम झटका काम था।

सृष्टि के उत्पादन हेतु वह सभी शक्तियों से गर्भित था। उसकी उत्पत्ति उच्चतम बुद्धि से हुई थी क्योंकि ईश्वरेच्छा को गति देने के लिए वह एक प्रमुख कारण था। वह हमारे भी हिस्से पड़ा परन्तु उसकी सुन्दरता विलुप्त हो गई थी क्योंकि 'मैंने' उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा था। उच्चतम बुद्धि एवं काम का केन्द्र एक ही है। वह किसी प्रकार या किसी तरीके से विनष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि मनुष्य के लिए जो आवश्यक है उसे यह क्रियाशील करने के लिए उत्तेजित करता है। आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह उस ओर शक्ति-बल से नहीं कर दिया जाता है।

६ अप्रैल १९२८

सन्ध्या समय मैं अकारण ही क्रोध के वशीभूत हो गया। यह क्रोध आध घन्टे तक रहा।

क्रोध और काम ईश्वर की कृतियाँ हैं। लोभ और मोह मनुष्य की। ईश्वर की कृति को कोई नष्ट नहीं कर सकता है। हम उसका रूपान्तर मात्र कर सकते हैं। हमें स्वयं अपनी कृति को विनष्ट कर देना चाहिए। जब शक्ति पास पड़ोस के केन्द्रों से नीचे उतरी तो उसने सृष्टि निर्माण के लिए कार्य किया। चारों ओर घड़ी की उल्टी चाल की भाँति गतियाँ होने लगीं। इस गति का परिणाम हुआ पदार्थ का निर्माण। लगभग ३ लाख प्रति सेकेण्ड से कम की यह गति नहीं थी। यदि गति इतनी तीव्र न होती तो पदार्थ का निर्मित होना सम्भव न था। इसने कुछ पदार्थ बनाया और वही सम्पूर्ण उत्पत्ति का आधार है। इस प्रकार गति थी तथा गति के अन्तर्गत भी गति थी जिसके विभिन्न परिणाम हुए। एक भारी गति हुई। उसने कुछ शक्ति पैदा की। यह शक्ति अन्ततोगत्त्वा क्रोध में परिणत हो गई। यह सब हमारे हिस्से में आया। मनुष्य सृष्टि का लघु रूप है। चूँकि भारी गति थी अतः वह द्रवीय शक्ति बन गई। जब इच्छाशक्ति अपनी गहराई को छूती है तो उसमें एक प्रकार की कुढ़न उत्पन्न होती

है जिसका आभास इच्छाशक्ति वाले को होता है। भारीपन का कारण असमान गति है। यदि साम्य भंग न किया गया होता तो कोई उत्पत्ति सम्भव न होती। प्रत्येक प्रगति के लिए उत्थान एवं पतन आवश्यक है।

११ अप्रैल, १९२८

प्रातः सात बजे कुछ क्षणों के लिए प्रेमभाव उमड़ पड़ा। शेष अवस्था तमाम दिन अपरिवर्तित रही।

१२ अप्रैल, १९२८

म ६ बजे प्रातः काल हल्केपन की अवस्था का अनुभव कर रहा था परन्तु अपने आपको ध्यान में लीन न कर सका। सात बजे प्रातः तक इधर-उधर के विचार आते रहे।

१४ अप्रैल, १९२८

प्रातः चार और पाँच बजे के बीच मैंने स्वप्न देखा कि मैं मर रहा था और अत्यधिक शान्ति का अनुभव किया। तमाम दिन एक अत्यन्त अच्छी अवस्था बनी रही।

मरने की अवस्था, उस समय जब वह महसूस करने से कहीं अधिक सशक्त होती है, सभी चक्रों में आरम्भ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अभ्यासी अपना व्यक्तित्व खोकर उस केन्द्र की अवस्था में लय हो गया है।

'ज्ञान' शब्द से अत्यधिक-शान्ति का अर्थ लगाया जा सकता है। जब हम 'ज्ञान' का उच्चारण करते हैं तो ध्वनि के प्रवाह में ऐसा लगता है कि मूल-शब्दांश से कुछ निकल कर अंतिम शब्दांश—ज्ञा-न पर समाप्त हो जाता है। यह दर्शाता है कि जो मूल में है वही अन्त में भी होना चाहिये। जब आप परमात्मा के ज्ञान के सम्पर्क में होते हैं तो वास्तविकता के रूप में उसके विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार प्रदर्शित, आप कुछ लाते

हैं। अतः ज्ञान केवल ज्ञान इसलिए नहीं कि हम जानें कि हम क्या हैं? अथवा हम उसमें क्या हैं? अथवा वह क्या है? ईश्वरीय अवस्था की उपलब्धि सच्ची वास्तविकता मुखरित करती है। अपने प्रभाव के उत्पादित किन्हीं गतिविधियों के साथ वह एक प्रकार का नृत्य है। उसमें विभिन्न स्तर हैं जिनकी व्याख्या मैंने अपनी पुस्तक 'अनन्त की ओर' में किया है। संक्षेप में, ज्ञान का अर्थ 'जानना' नहीं वरन् 'पा लेना' है। यह वह अवस्था है जब ज्ञान (knowledge) एवं कर्म (action) एक हो जाते हैं। जो कुछ ईश्वर ने अपने ही क्षेत्र में दर्शाया वही हम उसी की शक्ति द्वारा अपने क्षेत्र में दर्शाना आरम्भ करते हैं।

सच तो यह है कि अपने उच्चतम विन्दु पर विनाश (प्रलय) की अवस्था है जहाँ ईश्वर के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहता। वह स्वयं अपनी व्यवस्था में स्वतन्त्र (Absolute) है और हम अपनी व्यवस्था में स्वतन्त्र (Absolute) हो जाते हैं। वह स्वतन्त्र है—वह बिल्कुल स्वतन्त्र है। ज्ञान सतह पर तैरता है और सत्य आधार का कार्य करता है। अतः 'सत्य' ही ज्ञान है। इस प्रकार जब हममें वास्तविकता होती है तो हमें उसकी जानकारी होती है। 'सत्य' (Real) जब वास्तविकता बन जाता है तो ज्ञान देता है। वास्तविकता, बाहर और भीतर, दोनों, ज्ञान है।

१५ अप्रैल, १९२८ :

८ बजे रात्रि में अल्प समय के लिए प्रेमाभाव जागृत हो उठा।

प्रेम क्या है, विलेषकर जब हमें यह भी नहीं मालूम कि हम उसे क्यों और किसलिए प्यार करते हैं? कभी-कभी प्रेमावस्था में मनोवेग पैदा हो जाता है। कभी मनुष्य रोना आरम्भ कर देता है और कभी-कभी उसका रोने का मन करता है। मनोवेग निस्सन्देह मनुष्य की एक कमजोरी है। पर चूंकि यह स्वाभाविक रूप से आता है इसलिए मैं इसके विरुद्ध नहीं। यह कोई हानि नहीं पहुँचाता प्रत्युत थोड़ा बहुत

लाभ ही करता है। आम तौर से रोना तभी आता है जब मनुष्य उसे सहन नहीं कर पाता है। दूसरे शब्दों में, उसमें सहनशक्ति की कमी है।

१८ जून, १९२८

८ बजे प्रातः जब मैं कचहरी की ओर जा रहा था तो मैंने महसूस किया कि संसार प्रकृति का एक क्रीड़ास्थल है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करने का इच्छुक है, पर वह यह भूल गया है कि स्वयं उसकी असली आत्मा (real-self) सांसारिक कार्य कर रही है। पूर्णता सन्तों द्वारा वाद-विवाद के लिए एक विषय लिया गया होगा। पर मेरे विचार से यह अत्यन्त सरल है। उस अवस्था में मनुष्य लगभग अत्यन्त साम्य अवस्था में रहता है और स्थूल संसार तथा प्रकाशमय संसार, दोनों, एक दूसरे के समानान्तर चलते रहते हैं। वह इस संसार तथा प्रकाशमय संसार में कोई भिन्नता नहीं पाता। यदि आध्यात्मिक पक्ष पूर्ण है और सांसारिक अपूर्ण, तो मैं उसे अपंग पूर्णता कहूँगा। मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयत्न करना चाहिए, ईश्वर बनने का नहीं। हम यहाँ ईश्वर की सृष्टि को बिगाड़ने के लिए नहीं आये हैं वरन् उसे उसी ईश्वरीय व्यवस्था में सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए।

२० जून, १९२८

स्थिति अपरिवर्तनशील, केवल रात में मैंने अनुभव किया कि मेरा स्वयं का अस्तित्व मालिक का अस्तित्व है।

२२ जून, १९२८

रात्रि में मैंने एक स्वप्न देखा कि मैं अपने दो सहयोगियों के साथ किसी स्थान विशेष को गया। वहाँ हमारी भेंट एक औघड़ सन्त से हुई जिसने मुझे बताया "तुम अपने गुरु के प्रेम में इतने

अधिक डूबे हुए हो कि तुम्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति की कोई परवाह नहीं। उन्नति करने की भूख एवं विचार दोनों आवश्यक हैं।"

५ जुलाई, १९२८

रात्रि में एक स्वप्न में मैंने एक स्फूर्तिवर्धक सन्त को देखा। उन्हें देखते ही मैं तुरन्त अपने मालिक के ध्यान में संलग्न हो गया। इसपर उन्होंने कहा 'तुम बड़े चालाक हो।' कुछ समय बाद मैं दूसरी जगह पहुँचा जहाँ पर अपने कुटुम्ब के सदस्यों के साथ एक सन्त मौजूद थे। मैंने उन्हें अपना स्वप्न बताया। सन्त ने मुझमें प्राणाहुति दी।

प्राणाहुति मनुष्य के परिवर्तन के लिए ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग करना है। मनुष्य, जैसा विचारकों का कहना है, एक सामाजिक जन्तु है। इसका अर्थ हुआ कि उसमें जन्तुत्व विद्यमान है। वह जन्तु श्रेष्ठ बन जाता है और श्रेष्ठ जन्तुत्व से मनुष्य और फिर मनुष्य से मनुष्य-के-पीछे-मनुष्य। यही परिवर्तन है। मस्तिष्क की प्रवृत्तियाँ बदल जाती हैं और वह उचित ढङ्ग से हर कार्य करना आरम्भ करता है। वह कर्मेन्द्रियों का सही प्रयोग करना आरम्भ करता है। मस्तिष्क संयमित हो जाता है, और अन्त में ईश्वरीय व्यवस्था को प्राप्त होता है। प्राणाहुति इस प्रकार का फल देता है। इस फल की प्राप्ति के लिए हम इसी यन्त्र का प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा उन्नति के प्रत्येक स्तर पर ईश्वरीयता झाँकती हुई आती है और अन्त में ईश्वरीयपन में समाप्त हो जाती है।

११ जुलाई, १९२८

प्रातःकाल बेचैनी थी जो आध घण्टे तक बनी रही।

सहजता के उस पार बेचैनी है। जब एकरूपता या समभाव भङ्ग

होता है तो मनुष्य चैतन्य हो जाता है। जब तक सहजता मौजूद रहती-है उसमें कोई विघ्न नहीं। ध्यान की सहायता से जिस स्थिति की उपलब्धि हमें होती है वह एक निषेध पैदा कर देती है। जब मस्तिष्क की बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ उसके सम्पर्क में आती हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, जब प्रवृत्तियाँ सहजता के क्षेत्र को छूती हैं तब उसको प्रतिकूलावस्था का अनुभव होता है। अतः हमें भी मस्तिष्क की वाह्य प्रवृत्तियों को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। अब मैं आपको बेचैनी के सम्बन्ध में कुछ बताऊँगा। यदि किसी प्रकार मनुष्य बेचैनी में सहजता महसूस करना आरम्भ कर सके तो वह बाहर जाने वाली प्रवृत्तियों को उसमें प्रविष्ट होने के लिए स्थान न देगी।

१७ जुलाई, १९२८

मध्याह्नकाल के स्वप्न में अपने मकान के समीप के चबूतरे पर, जहाँ कुछ लोग एकत्रित थे, मैंने अपने आपको देखा। मैं खड़ा था और एक संत ने मुझमें प्राणाहुति दिया। मैं गिरने से बाल-बाल बचा और उस सन्त द्वारा मैं बचा लिया गया था। दूसरी प्राणाहुति में मैं गिर पड़ा, पर उस गिरने में बनावटीपन था। अर्थात् मैं उस प्राणाहुति के प्रभाव के कारण नहीं गिरा बल्कि मैंने उसे केवल दिखाने के लिए वैसा किया था। इसने सन्त को खिझा दिया। मेरे मालिक भी वहाँ मौजूद थे।

२२-२३ जुलाई, १९२८

जिस प्रकार एक पहलवान शारीरिक बल के कारण अपने शरीर को ही अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समझता है ठीक उसी प्रकार मैं अपने अस्तित्व का अनुभव आत्मा ही के रूप में करता हूँ।

२ अगस्त, १९२८

मैंने स्वप्न देखा कि कोई पवित्रात्मा किसी को मेरी मौजूदगी

में "मैं ब्रह्म हूँ" (अहं ब्रह्मास्मि) का विषय समझा रहा है। उसे सुनने पर मैंने महसूस किया कि 'मेरा तथा मेरे मालिक का अस्तित्व एक ही है।' अर्थात् मेरा अस्तित्व मालिक का अस्तित्व था और अन्दर से 'मैं हूँ' की आवाज आ रही थी और उस आवाज को जब तक मैं नींद और स्वप्नावस्था में था बराबर महसूस करता रहा। जागने पर भी कुछ समय तक के लिए वही आवाज मालूम होती रही।

४ अगस्त, १८२८

मैंने स्वप्न देखा कि एक पवित्रात्मा ने मुझे बैठ जाने की आज्ञा दिया और फिर मुझमें प्राणाहुति दिया। मैं जाग उठा और उसके बाद कुछ समय तक के लिए ध्यान में बैठा रहा।

वर्षों के अभ्यास के बाद जब ध्यान प्रगाढ़तर हो जाता है और जब विचार किसी की ऊपर की यात्रा आरम्भ कराता है तो वह व्यक्ति एक ऐसे बिन्दु पर आ जाता है जहाँ वह महसूस करता है कि "मैं स्वयं ही वह शक्ति हूँ।" यह तब होता है जब सुरत दैवी झलकों के सम्पर्क में आता है। यह अपनी प्रकृति छोड़कर दैवी प्रकृति ग्रहण कर लेता है। वहाँ वह 'मैं ब्रह्म हूँ,' (अहं ब्रह्मास्मि) महसूस करना आरम्भ करता है। मैं सुरत का अर्थ इस प्रकार करता हूँ : जब विचार आत्मा के सम्पर्क में आता है तो एक तीसरी वस्तु, एक चिन्गारी, पैदा होती है। उसी को सुरत कहते हैं। यही उच्चतमावस्था की ओर ले जाती है। विचार पीछे रह जाते हैं। दैवी क्षेत्र में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है।

कुछ समय पश्चात् जब सुरत आगे बढ़ता है तो वह दैवी रूप (गुण) लाता है। अहं विनष्ट हो जाता है। अतः स्वाभाविकतया मनुष्य कुछ आगे बढ़ता है और प्रत्येक पग अपने साथ अधिक दैवीपन लाता है।

इस प्रकार दैवीपन उसके विचार में बनी रहती है। तब वह महानता का एहसास करना आरम्भ कर देता है क्योंकि उसका मस्तिष्क भी इसे महसूस करने के लिए प्रशिक्षित है। फिर वह 'ब्रह्म से ही सब कुछ' महसूस करता है। एक पिछला कदम उसे ईश्वर के स्वभाव का एक अंश उद्भासित करता है—"सभी ब्रह्म है।" यह वास्तविकता के आवेशन तथा उसके परे के बीच का प्रभाव है। "सब ईश्वर से हैं" का भान होता है।

जब यह सभी स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं तो अभ्यासी अपने आप को ऊपर लिखित सभी बातों के ऊपर महसूस करना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार स्वयं अपने तथा ब्रह्म के वास्तविक स्वभाव का उदय होता है। इसके परे जाने पर प्रत्येक वस्तु खामोश है तथा स्वयं खामोशी खामोश हो जाती है।

दोनों संसार के श्रद्धेय पथप्रदर्शक !

आप दीर्घजीवी होवें ! प्रणामोपरान्त मेरा यह निवेदन है कि यहाँ सब कुशल है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आपकी कृपा मेरे इस दीन एवं असहाय जीव की जीवन-नैया को किसी न किसी दिन जीवन-सागर से पार कराएगी।

अब मैं स्वयं अपनी दशा के विषय में आप महानुभाव को लिख रहा हूँ। मैंने महानुभाव के पास लखनऊ से अपनी दैनन्दिनी भेजी थी। उसमें एक स्वप्न का जिक्र किया था और यह भी लिखा था कि मेरे हृदय से "मैं" पन का विचार लुप्त होना आरम्भ हो गया है। यात्रा से लौटने पर 'सभी ब्रह्म है' की स्थिति मुझ पर छा गई थी। उसके बाद पूर्ण समर्पण का विचार निरन्तर बना रहा। सभी बातें मालिक

की इच्छा पर छोड़ दी गई थीं। कुछ दिनों बाद वह स्थिति लुप्त हो गई। अब इन दिनों में अपने हृदय में अत्यन्त निर्भीकता का अनुभव करता हूँ। परन्तु वह उतावलेपन से मिश्रित है।

भय निम्नतर मस्तिष्क की उपज है तथा प्रेम उच्चतर मस्तिष्क की। भय एक मानसिक भ्रान्ति भी है। जब प्रेम जागृत होता है, भय विलुप्त हो जाता है। आध्यात्मिकता के आकांक्षी में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब वह अकारण भय खाता है। इसका अर्थ हुआ कि वह एक ऐसी स्थिति (अवस्था) को प्राप्त करने जा रहा है जिसमें निम्नतर मस्तिष्क बिदा लेना आरम्भ कर देता है। दीपक बुझा देने पर पतिंगे उस पर नहीं गिरते। बीज के भून दिये जाने पर उसके अंकुरित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जब आध्यात्मिकता का सूर्य चमकता है तो वह संसार में कीर्ति प्रसारित करता है जिसे केवल **अन्तिम-चैतन्यता** ही निर्मित कर सकती है। इस कार्य के लिए मैं लोगों को तैयार कर रहा हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि लोग मेरे इस कार्य से लाभ अवश्य उठाएँगे।

८ अक्टूबर १९२८ को मैंने एक स्वप्न देखा कि मैं कचहरी जा रहा था और रास्ते में एक सन्त मिले जिन्होंने मुझे प्राणाहुति देना आरम्भ किया। वह प्राणाहुति बढ़ी हुई नदी की धारा के समान थी, किन्तु मैंने अपने मालिक के विचार में अपने को डुबा दिया। कुछ समय बाद सन्त ने मुझे प्राणाहुति देना बन्द कर दिया। मैंने उनसे कहा कि उनकी प्राणाहुति कुछ भी नहीं थी (नगण्य थीं)। मैंने अपने मन में सोचा कि यदि वे कभी हमारे गुरु जी की प्राणाहुति का अनुभव करते तो उन्हे मालूम होता कि प्राणाहुति क्या है? सन्त ने कहा, "भाग जाओ। मैं तुम्हें आसानी से छोड़ दे रहा हूँ"। उस समय मेरी स्थिति काबू के बाहर थी।

अत: मुझमें एक इक्के की चाह उठी जिससे मैं कचहरी पहुँच सकूँ। मैंने देखा कि दो मैला गाड़ियाँ मेरे सामने से गुजरीं। मैंने सोचा कि मैं उन पर नहीं जाऊँगा। उसके बाद मैं जाग उठा और देखा कि मेरी चारपाई के बाईं ओर एक महान पुरुष खड़े थे जिनकी परछाईं मुझ पर पड़ रही थी। उनका मुख एवं शरीर अत्यन्त तेजपूर्ण था और बड़ी तेजी के साथ चमक रहा था। चूँकि मैं नींद से अचानक जगा दिया गया था अत: कुछ डरा-सा था। वह मूर्ति अदृश्य हो गई। स्वप्न के प्रभाव के कारण दो दिनों तक मैंने अपने मस्तिष्क में कुछ चक्कर-सा अनुभव किया, और मेरी हालत एक गूँगे बहरे की सी थी। इसके पश्चात् उसी अक्टूबर माह में मैंने एक अन्य स्वप्न देखा कि मैं एक चारपाई पर आराम कर रहा था और मेरे मालिक चारपाई पर पैताने बैठ गये थे। मैंने अपना पैर दूसरी ओर हटाया। उन्होंने पूछा कि मैंने ऐसा क्यों किया। मैंने उत्तर दिया कि मैने उन्हें स्थान देने के लिए वैसा किया था। इसी बीच एक दूसरे सन्त भी आ गये। इन दोनों महान विभूतियों ने यह कहते हुए कि रामचन्द्र की स्थिति बहुत अच्छी है, आपस में बातें करना आरम्भ किया।

उस समय की मेरी स्थिति ऐसी थी कि मुझे लगा कि मैं ही सम्पूर्ण **वास्तविकता** था। यह स्थिति दो दिनों तक बनी रही। बाद में वह ऐसी बदली की मुझे अपने अस्तित्व का कोई ज्ञान न था। इस संसार अथवा दूसरे संसार का कोई विचार नहीं है—और न तो कोई प्रेम अथवा शत्रुता का ही विचार है। इसके पूर्व मैं अपने अस्तित्व को मालिक का अस्तित्व समझता था पर अब मालिक का भी अस्तित्व नहीं मालूम पड़ता। गुरु का विचार भी अभाग्यवश गायब हो गया। कभी-कभी अब तो प्रयत्न करने पर भी मैं गुरु पर ध्यान नहीं कर सकता। शान्ति एवं स्निग्धता भी अब नहीं है।

अब मुझे निरर्थक भावावेशों से छुटकारा मिल गया। मस्तिष्क में न तो अब कोई व्याकुलता है और न एकाग्रचित्तता। न तो लय होने की और न विलग होने की ही कोई इच्छा है। ऐसा लगता है कि विचार स्वयं अपने में पिघल गया है। न तो अब चिन्ता है और न कोई दुःख, न कोई खुशी और न हर्षोन्माद। इस स्थिति को कैसे व्यक्त किया जाय समझ में नहीं आता। फिर भी काफी गहन चिन्तन के पश्चात् मैं अन्तःकरण में एक टीस अवश्य अनुभव करता हूँ।

ऐ हृदय की व्यथा! कम से कम तू तो मुझे असिलयत (सत्य) का ज्ञान कराती है। यह पहेली क्या है, मैं समझ नहीं पाता।

गूँगे-बहरे की स्थिति : अपने ही अन्दर स्वयं अपनी प्रकृति में क्रीड़ा करना, अपने ही भेद को छूना, अपनी इन्द्रियों के प्रति उदासीन होना। यह वह स्थिति है जहाँ मनुष्य स्वयं अपनी सीमाओं को पार करने के पश्चात् पहुँचता है। यह कोई स्थाई स्थिति नहीं है। वह तो इससे कहीं अधिक ऊँची है। उसे अपरिवर्तनशील दशा कहते हैं। यह स्वतन्त्रता की यात्रा के मध्य आती है। यह सारी क्रियाओं का अन्त है।

दोनों संसार के श्रद्धेय पथ प्रदर्शक! आप दीर्घ-जीवी हों!

सादर मेरा निवेदन है कि मैं अपनी दैनन्दिनी बराबर लिखता रहा हूँ। मुझे ऐसा महसूस होता है कि सिर से पाँव तक मुझमें कोई ईश्वरीय शक्ति है जो क्रियाशील है और कार्य कर रही है। बुद्धि कुछ तेज सी लगती है। ध्यान करने पर अन्दर की सूक्ष्मतम अवस्था का ज्ञान हो जाता है। पर मैं हर अवस्था को नकारता और उनके प्रति उदासीनता दर्शाता हूँ।

अपने मस्तिष्क को उनकी तरफ जाने से रोकता हूँ। अनेकों आध्यात्मिक एवं दार्शनिक बिन्दु अपने आप अथवा केवल चिन्तन मात्र से उत्पन्न होते हैं। पर उनकी तरफ स्वाभाविकतया मैं किसी रुझान का अनुभव नहीं करता।

२४ से २७ दिसम्बर, १९२८

अधिक हुलास बना रहा। २७ तारीख को स्वप्न देखा कि मैं अपने श्रद्धेय मालिक के नाम पर कुछ सुगन्ध आग में छिड़क रहा था। मेरे बायीं ओर एक पण्डित (पुरोहित) बैठे थे और मैं अत्यन्त प्रेमाभाव में रो रहा था। तत्पश्चात् मैं अपने मालिक के स्थान पर पहुँचा और उन्होंने स्वयं मुझे पूरा स्वप्न बताया। तब मालिक ने ईश्वरीय उल्लास की स्थिति में आकर अपनी छाती से मेरी छाती के मध्य भाग को धक्का दिया। मुझे कुछ दर्द मालूम होने लगा। एक अन्य सन्त ने जो उस समय मौजूद थे, कहा कि जो कुछ मेरे साथ किया गया था वह आगे चलकर कुछ तकलीफ दे सकता है। मैंने प्रातःकाल प्रेम का भाव अनुभव किया और यह स्थिति कई दिनों तक बनी रही।

२८ से ३१ दिसम्बर, १९२८

समय-समय पर प्रेम का भाव उमड़ पड़ा और मैं मालिक तक पहुँचने के लिए लालायित हो उठा।

——

१९२९

१ जनवरी, १९२९

मैंने स्वप्न में आपको देखा। आपने हमें सभी बिन्दुओं पर प्राणाहुति दिया। एक विशेष प्रकार की भी प्राणाहुति दी जिसने हमारे सम्पूर्ण शरीर में गर्मी पैदा कर दिया पर उससे कोई तकलीफ न हुई।

११ जनवरी, १९२९

स्वप्न में एक सन्त को देखा। उन्होंने एक ऐसी प्राणाहुति दी जो बिजली की भाँति सारे शरीर में दौड़ गई और मुझे ऐसा लगा कि ईश्वरीय तेज की एक नदी हमारी ओर मोड़ दी गई है। दूसरे दिन तीव्रता इतनी अधिक थी कि मैं न तो कुछ समझ पाता था और न विचारों में कोई कार्यशीलता थी। ऐसा लगता था मानों अन्दर एक प्रकार की अचेतनता थी। जिस क्षण मैंने कार्य छोड़ दिया, तीव्रता का बहाव पैदा हो गया।

१४ जनवरी, १९२९

प्रातःकाल मैंने महसूस किया कि मेरे और मेरी दशा के बीच विचारों का एक पर्दा था, और यदि वह पर्दा फाड़ दिया जाता तो मैं उस दशाविशेष में एकरस हो जाता उसी में मिल गया होता।

विचार वास्तविकता का जंग (मुर्चा) है। शब्दों का आधार केवल

विचार है। यदि विचार पवित्र हो तो शब्द पवित्र एवं प्रभावशाली होंगे।

भक्ति : मैं क्या कर रहा हूँ और किसलिए कर रहा हूँ की जानकारी के बगैर सर्वशक्तिमान की लहरों में जोरों से हाथ पाँव मारना। स्वयं अपने आप की तथा तरीके की ज्ञानहीनता सर्वोच्च प्रकार की भक्ति है।

१७ जनवरी, १९२९

मैंने अपने मालिक को एक स्वप्न में देखा। उनको देखने से प्रेम का वेग इतना तीव्र हो उठा कि मैं अपना होश खोने लगा। इसी बीच मेरे मालिक ने मुझे अपने समीप बुलाया और प्रसन्नतापूर्वक बताया कि मैं पूर्वजन्म में यद्यपि कोई बादशाह तो नहीं था पर एक नेता अवश्य था और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए अभ्यास किया करता था और इसी कारण मैं इस जीवन में अतिशीघ्र उन्नति कर सका था।

दोनों संसार के श्रद्धेय मार्गप्रदर्शक ! आप दीर्घजीवी हों !

इस दैनन्दिनी में तीन मुख्य त्रुटियाँ हैं। प्रथम, मैंने झूठ बोलना प्रारम्भ कर दिया है जिसे मैं सदा घृणा करता था। पर मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्यों और कैसे ऐसा करता हूँ। बाद में मुझे उसका भान होता है। दूसरी चीज जिसे हाल ही में मैंने नोट किया है वह है 'अहं'। यह इतने सूक्ष्म ढंग से डंक मारता है कि उसे समझने के लिए एक बड़ी तेज समझ की आवश्यकता है। डंक मार लेने के बाद ही मैं उसे समझ पाता हूँ ; अथवा जब मैं किसी खास विचार में खोया रहता हूँ तब मैं उसके स्पष्ट व्यक्तित्व को महसूस करता हूँ।

आपकी कृपा एवं प्यार के कारण मुझमें ऐसी समझ विकसित हो रही है कि अहं के आक्रमण के पूर्व ही मुझे उसके साये की जानकारी हो जाती है और मैं उसकी परछाई को महसूस करने लगता हूँ। फिर भी, मैं उससे बहुत कुछ प्रभावित हो जाता हूँ। कभी-कभी उसके पूरे प्रभाव में आने के पश्चात् ही उसे जान पाता हूँ। तीसरी वस्तु, बुरी वासना है जिसका अनुभव मुझे २८ फरवरी, १९२९ से हो रहा है। लेकिन उसकी दशा आमतौर से आकाश में अपने अणुओं के साथ स्वच्छन्द रूप से दौड़ने वाली बिजली की भाँति है, अर्थात्, एक क्षण के लिए यह समझ लें कि वासना की एक धारा शरीर के अन्दर दौड़ रही है पर मुझे स्पर्श नहीं करती।

अहं : सभी आधुनिक एवं प्राचीन लेखकों द्वारा अहं का दुरुपयोग किया गया है। अहं हमें सभी कार्य करने की शक्ति देता है। यह हमें बोध कराता है कि हममें किसी कार्य के करने की शक्ति है। पर अहं को हम आत्मा के बजाय शरीर के अनुरूप समझते हैं। अहं ईश्वर की देन है जिसे हम नष्ट नहीं कर सकते। हमें उसे सुधारना चाहिये।

मान लीजिये किसी मनुष्य के पास अपार धन राशि है और उसे इसका बड़ा गर्व है। वह कोई पाप नहीं करता क्योंकि इससे किसी को हानि नहीं पहुँचती। इसका परिणाम केवल यह होता है कि उस मनुष्य की अक्ल कुछ मन्द पड़ जाती है।

९-१० फरवरी, १९२९

चित्तवृत्ति में अनिच्छा की अधिकता। मैं अपने को नाचीज समझता हूँ। मस्तिष्क में इतनी अधिक सुस्ती और विमुखता है कि पूजा अर्थात् ध्यान भी नाममात्र को बड़ी बेरुखी से किया

जाता है। इसके कारण पराङ्मुखता में अधिकता है और चित्त-वृत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव। अन्दर से काम करने की इच्छा होती है परन्तु आलस्य उसमें एक बाधक है। मैं अपने आन्तरिक विचारों को अपने सम्मुख अपना मानव धर्म समझकर, व्यक्त करता हूँ। बहुत प्रयत्न और बहुत सोच विचार के बाद मैं अपनी दशा तथा किसी हद तक अपनी भावनाओं का अर्थ व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द प्राप्त कर पाता हूँ। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि वे अर्थ सही हैं अथवा नहीं। आपके अवलोकनार्थ अपनी दैनन्दिनी लिखते समय एक आश्चर्यजनक बात, जिसने मेरा ध्यान आकर्षित किया था, यह है कि लिखते समय मेरी दशा मन्द एवं शुष्क हो जाती है और कोई आन्तरिक अवस्था प्रकट हो कर अपना प्रभाव डालती है। यह एक प्रकार की भावना को जन्म देती है, उस मनुष्य की भावना के समान जिसने मदिरा का पान तो नहीं किया है, केवल उसे सूँघ भर लिया है।

१२ फरवरी, १८२८

रात्रिसमय दशा अति गम्भीर, शेष पूर्ववत्।

१५ फरवरी, १८२८

कचहरी नहीं गया, अतः अधिक तीव्रता मालूम हुई। दोपहर को कुछ अहं मालूम हुआ। **सूचना :** जब कभी मैं कचहरी नहीं जाता मैं तीव्रता का अनुभव करता हूँ। पर वह तीव्रता एक तेज चिन्गारी की भाँति होती है जिसमें से गर्मी निकाल दी गई हो पर फिर भी उसकी चमक-दमक पूर्ववत् बनी रहती है।

१६ फरवरी, १८२८

प्रातःकाल ध्यान के समय मुझे ऐसा लगा कि ज्ञानी वह है जो अतीत पर शोक न कर वर्तमान के प्रति कृतज्ञ होता है।

१७ फरवरी, १९२९

कचहरी नहीं गया। दिनभर उल्लास बना रहा। सन्ध्या के सत्संग के समय सिर और मस्तक में एक रुचिकर चेतना का अनुभव हुआ।

२० फरवरी, १९२९

जब मैं प्रातःकाल ध्यान के लिए बैठा तो मुझे ऐसा लगा कि अन्दर आत्माचक्र से मस्तक तक, जो कदाचित् विषयसुख का स्थान है, एक अत्यन्त सूक्ष्म कड़ी एक सीधी रेखा की भाँति थी, और उस कड़ी के दोनों सिरे पिघले हुए लगे। कुछ देर बाद मुझे लगा कि आत्माचक्र से मानो सम्बन्ध टूट सा गया और केवल विषयसुख के स्थान पर ही विचार टिका रहा। जिस समय तक आत्माचक्र से विषय-सुख केन्द्र तक कड़ी बनी रही उस समय तक विषय-सुख एवं वासना के विचार जिसका संकेत मैंने प्राक्कथन में कर दिया है—बहुत ज्यादा आते रहे। कुछ समय पश्चात् यह दशा न रही। ध्यान के समय मस्तक में केवल एक गुदगुदी सी बनी रही। विचार विषय—सुख-स्थान में फँसा रहा। शान्तता इतना गम्भीर था कि शरीर का प्रत्येक अङ्ग चेतनारहित मालूम पड़ता था। हाथ पैर जहाँ रख जाते वहीं मुर्दे से पड़े रहते। किसी प्रकार की हरकत करने की मुझमें इच्छा न थी। ध्यान के पश्चात् मुझे सिर में कुछ भारीपन मालूम हुआ जो दिन भर बना रहा।

२१ फरवरी, १९२९

रात्रिसमय एक विचार आया कि अब मुझे मर जाना चाहिये। मृत्यु के लिये हृदय में अत्यन्त तीव्र चाह थी जो निम्नांकित पद्य के विचारों के समान थी :—

"मृत्यु जिसका विश्व को भय है, मेरे लिए एक आनन्द की वस्तु है। मैं कब मरूँगा और पूर्ण शन्ति प्राप्त करूँगा ?"

२२ फरवरी, १९२९

तमाम दिन मृत्यु की चाह एवं 'जीवन से मृत्यु भली' का विचार बना रहा। प्रत्येक विचार जो मन में उठता मृत्यु की चाह का विचार होता। बिना वाह्य भावों के उस दशा की गहराई में जाना लय अवस्था है। इससे बड़ी भी एक अवस्था है जिसे हम सरलतापूर्वक 'मृत्यु की मृत्यु' कह सकते हैं। जो मनुष्य उस अवस्था तक पहुँच जाता है वह अपनी जीवन-लीला की समाप्ति कर फिर वापस नहीं आता। इसी अवस्था में मनुष्य सचमुच यह अनुभव करने लगता है कि वह इतने अधिक सूक्ष्म ढंग से मरा हुआ है कि उसमें मृत्यु का विचार ही नहीं रहता। इसका अर्थ हुआ कि वह प्राणी के सबसे गहरे बिन्दु की गहराई तक जाती है, और वह दशा उसके जीवन का ही अङ्ग बन जाती है।

२५ फरवरी, १९२९

समय-समय पर बुरे विचारों का अनुभव तथा उनके प्रति लगाव भी। रात्रि में एक सन्त को स्वप्न में देखा। उन्होंने मुझे मुबारकवादी दी कि मैं एक दशा पार कर गया था और यह भी कहा कि दूसरी दशा भी शीघ्र पार होने जा रही है।

२६ फरवरी, १९२९

प्रातः, ध्यान समय, विषय—सुख के विचार।

२७ फरवरी, १९२९

सन्ध्या-सत्सङ्ग के कुछ पूर्व विषय-सुख के विचार। सत्सङ्ग

के लिए मेरी कोई इच्छा न थी, पर जब मुझे उसके छूट जाने का ख्याल आया तो ध्यान में बैठ जाने की इच्छा जागृत हो उठी।

जब मनुष्य स्वतन्तता की अपनी यात्रा में त्रिकुटी पर पहुँचता है तो ऐसी दशाएँ आती हैं। वहाँ पहुँचने की पहचान (लक्षण) यह है कि धूप में भी अभ्यासी चारों तरफ अन्धकार का अनुभव करता है।

१ मार्च, १९२९

कोई परिवर्तन नहीं; रात्रि में मुझे ऐसा लगा कि मैं अपने गुरु को प्यार नहीं करता था। मेरी यह समझ में नहीं आता था कि यह प्यार किस प्रकार पैदा किया जा सकता था।

२ मार्च, १९२९

गत रात्रि जब गुरु जी मुझे प्राणाहुति दे रहे थे तो मुझे एक प्रकार की प्रतिध्वनि तथा अपनी रीढ़ की हड्डी के बीच से ऊपर की ओर जाती हुई एक खड़खड़ाती चेतना की अनुभूति हुई। सहज-मार्ग प्रणाली की अपनी यात्रा में हम विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित विभिन्न अनुभवों के सम्पर्क में आते हैं। गन्तव्य तक पहुँचने के लिए रीढ़ के बिन्दु भी शाक्ति देना प्रारम्भ कर देते हैं।

दोनों विश्व के श्रद्धेय पदप्रदर्शक! आप दीर्घजीवी हों!

मुझे निवेदन करना है कि दैनन्दिनी में लिखने के लिए मुझे रोजाना विषय न मिल सके। कचहरी के कार्य में अधिक व्यस्तता इसका कारण है। यही बाधा डालती है। पर ईश्वर की इच्छा का पालन करना ही है।

मेरी साधारण अवस्था, जैसा कि मैं आपको समय-समय पर लिखता आया हूँ, वैसी ही है। केवल

एक चीज बढ़ गई है। जब कभी मैं किसी सांसारिक अथवा आध्यात्मिक कार्य में लगा होता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि मुझे मालूम नहीं पड़ता कि वह कार्य मेरे द्वारा हो रहा है अथवा किसी गुप्त प्राणी द्वारा। केवल एक यन्त्र कार्य करता मालूम पड़ता है। अपने को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करने पर भी कि मैं स्वयं कार्य कर रहा हूँ, कर्त्ता का पता नहीं चल पाता। अर्थात्, विभिन्नकार्यों के लिए ईश्वर-प्रदत्त विभिन्न आन्तरिक शक्तियाँ अपने आप कार्य कर रही हैं। उदाहरणार्थ, विचार, चिन्तन का कार्य करता है। हाथ लिखने आदि का कार्य करता है। पर मैं नहीं जान पाता कि यह सब कौन कर रहा है क्योंकि न तो मैं कार्य करता हुआ लगता हूँ और न कोई प्राणी कार्य करता हुआ मालूम पड़ता है। यदि मैं अपने को यन्त्र मान लूँ तो मेरी स्थिति कदाचित् स्पष्ट हो जाएगी। मेरी स्थिति एक तराजू के पलड़े के समान है। जब कोई वजन एक पलड़े पर रखा जाता है तो वह भारी हो जाता है और जब वह वजन हटा दिया जाता हे तो दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं। यह उपमा मेरी सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करती है।

मैंने स्वप्न देखा कि एक सहयोगी भाई मुझसे कह रहे हैं कि श्रद्धेय गुरु जी ने एक पत्र भेजा है जिनमें दो आदेश मेरे लिए हैं। प्रथम तो यह है कि मै अपने घर को जंगल समझूँ। दूसरा तो मेरा दिमाग से निकल गया और मैं उसकी महत्ता समझ सकने में असमर्थ रहा। बाद में मैंने एक सन्त को देखा। उन्होंने मुझे अलीगढ़ स्टेशन पर प्राणाहुति दिया। तब मैंने स्वप्न में देखा कि मैं

एक नदी, जिसके बीचों बीच एक सूखा मार्ग था, पार कर रहा था। वे सन्त महोदय दूसरे किनारे पर जो काफी ऊँचा था, खड़े थे। जब मैं उनके समीप पहुँचा तो उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और मुझे ऊपर की ओर खींचा। तदुपरान्त श्रद्धेय गुरु जी ने मुझे प्राणाहुति दिया।

दूसरे दिन मैंने स्वप्न में श्रद्धेय गुरु जी को देखा। मैंने देखा कि उनसे लगभग चार गज दूर मैं जमीन पर बैठा था। प्रेम का आवेग इतना गम्भीर एवं प्रचण्ड था कि मैं बिल्कुल अचेत हो हो गया था और सिर की कोई शक्ति मुझे ऊपर की ओर खींच रही थी। यह देखकर मेरे गुरु जी ने मुझे अपने नजदीक बैठ जाने का संकेत किया। तब मैं जाग गया।

कुछ दिनों से मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि जब कभी मैं कुछ करने की सोचता हूँ तो आलस्य मुझे वह कार्य करने से रोकता है। हर कार्य टलता जा रहा है। नये कपड़े सिलने हैं तो उसके लिए कभी समय नहीं आता। कोई मिल जाता है तो उससे वह कार्य करने के लिए मैं कह देता हूँ, अन्यथा नहीं। अधिकतर मुझे केवल भोजन को छोड़कर, अपने निजी आवश्यकताओं का ख्याल नहीं रहता। बहुधा मैं अपना भोजन करना भी भूल जाता हूँ। यदि मेरी कोट में एक बटन की कमी है तो उसके स्थान पर दूसरी नहीं लग पाती। प्रत्येक कार्य में विशेषतया अपने निजी कार्य में, टाल-मटोल एवं उदासीनता है।

दोनों विश्व के परम श्रद्धेय पथ प्रदर्शक! आप दीर्घजीवी हों!

विनम्र निवेदन है कि मैं ६ मार्च से २८ मार्च १९२८ की दैनन्दिनी नीचे लिख रहा हूँ। मैं २९ मार्च से १ अप्रैल तक फतेहगढ़ था। उसके बाद अस्वस्थता

के कारण मस्तिष्क में व्याकुलता बनी रही और मैं कुछ लिख न सका। ११ अप्रैल से फिर मैंने लिखना आरम्भ कर दिया।

७ मार्च, १९२९

जो दशा पहले रहा करती थी, अब बदल रही है। कभी-कभी प्रकृति एवं ईश्वर के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार मस्तिष्क में प्रतिध्वनित होते थे पर मैंने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

८ मार्च, १९२९

वही स्थिति बनी है। सन्ध्या समय छोटी-मोटी बातों पर क्रोध आ जाता था।

९ मार्च, १९२९

सन्ध्या समय आपने कृपा कर अपने स्थान से प्राणाहुति दिया और मुझे अपने मस्तिष्क में प्रकाशमय विचार विचरते से मालूम पड़े। तदुपरान्त जब तक मैं बैठा रहा हालत रंगहीन बनी रही। रात में मैंने स्वप्न देखा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया था। कौन सी परीक्षा? मैं नहीं जानता। मैं प्रेमविभोर हो रो रहा था और ईश्वर के प्रति आभार प्रकट कर रहा था।

११ मार्च, १९२९

हालत में कोई परिवर्तन नहीं। ९ बजे रात्रि में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मस्तिष्क में विचार गूँजने लगे। मैंने उनकी ओर कोई अधिक ध्यान नहीं दिया। पूर्ववर्ती विचारों के बीच सत, रज और तम से सम्बन्धित सच्चाई मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होने लगी।। मैं पहले ही आपके सम्मुख उन विचारों का स्पष्टीकरण कर चुका हूँ।

१२ से १६ मार्च, १९२९

कोई परिवर्तन नहीं।

१७ मार्च, १९२९

प्रातःकाल ध्यान के समय क्रोध की ज्वालाएँ भभक उठीं। दिन में हालत ऐसी बनी रही कि संसार एक स्वप्न सा है।

१८ मार्च, १९२९

सन्ध्या समय जब सत्सङ्ग में सम्मिलित हुआ तो एक क्षण के लिये मैं समाधिस्थ हो गया था और पीले रंग की एक अस्पष्ट धारणा मुझमें थी। कदाचित् यह धारणा रंग सम्बन्धी बातों के निरन्तर सुनते रहने के कारण उत्पन्न हुई होगी।

१९ मार्च, १९२९

सन्ध्या समय मेरी आन्तरिक अवस्था बाह्य पर अपना प्रभाव डाल रही थी। सम्पूर्ण विश्व एक ही अवस्था में लय हो गया था। मैं सारे शाहजहाँपुर को अनजाने ही प्राणाहुति दे रहा था। प्राणाहुति के प्रभाव को मैंने रोकने का प्रयत्न किया परन्तु मैं बेबस था। किसी आन्तरिक स्रोत से अपने आप प्रभाव निकल रहा था। प्रातः ११ बजे मुझे फिर ऐसा लगा कि सुयोग्य प्राप्त-कर्त्तागण मुझसे प्राणाहुति पा रहे हैं।

२० से २४ मार्च, १९२९

अपरिवर्तित अवस्था।

२५ मार्च, १९२९

चिड़चिड़ापन।

२६ से २८ मार्च, १८२८

दशा अपरिवर्तित।

२८ मार्च, १८२९ से १ अप्रैल १८२८:

स्वप्न देखा कि मुझे एक पत्र मिला जिसमें यह लिखा हुआ था।

"उन्हें जिनका गौरव-प्राप्ति का उचित अधिकार है
उन्हें जो अहंकार एवं घृणा दमन कर देते हैं।"

दोनों विश्व के श्रद्धेय पथप्रदर्शक! आप दीर्घजीवी होवें!

मेरी हालत इस प्रकार है :

कभी-कभी मैं ऊँचाई की सर्वोच्च चोटी पर स्थिर हो जाता हूँ और कभी मैं अपने पैर के पीछे की वस्तु भी देख सकने में असफल हो जाता हूँ। कभी तो मैं अपने को एक अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में पाता हूँ और यह महसूस करता हूँ कि मेरा विचार किसी अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से जुड़ा हुआ है जो मुझे अत्यधिक आनन्द देता है, पर वह कर्मेन्द्रियों से सम्बन्धित नहीं मालूम होता। कभी बुरे विचार मुझे इतना अधिकतंग करते हैं कि मैं अपने आपको संसार का एक ऐसा व्यक्ति समझने लगता हूँ जिसे आध्यात्मिकता के आदि अन्त का भी ज्ञान न हो।

२० से २२ अप्रैल, १८२८

कोई परिवर्तन नहीं।

२३ अप्रैल १८२८

प्रातः १०-११ के बीच मुझे ऐसा लगा कि प्रत्येक मानव

मालिक के सदृश है। यह भाव समय-समय पर आता रहता है। इसका प्राकट्य एक बुलबुले के समान है। यह हालत अभी तक नहीं आ पाई है।

२७ **अप्रैल, १९२९**

लगभग ९ बजे रात्रि में ऐसा लगा कि विशुद्ध आध्यात्मिकता की एक धारा मेरे अन्दर से निकल रही थी और बाहर जा रही थी। मेरे मस्तिष्क में यह विचार आया कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय इसी प्रकार ईश्वर में से एक धारा निकली थी और सृष्टि बन गई थी। अब भी वह धारा वैसी ही है, अपरिवर्तित, बशर्ते कि वह हृदय की आँखों से देखी जाय।

२८ **अप्रैल से १ मई १९२९**

कोई परिवर्तन नहीं।

२ **मई, १९२९**

रात्रि समय श्रद्धेय लाला जी को स्वप्न में देखा। कोई परिवर्तन नहीं।

३ मई से ५ मई, १९२९

अपरिवर्तित दशा।

१४ मई, १९२९

प्रातः समाधि के पश्चात् कुछ प्रसन्नता थी। ११ बजे के लगभग लगा कि ब्रह्माण्ड ईश्वरीय प्रेम से ओत-प्रोत था।

१५ से १७ मई, १९२९

कोई परिवर्तन नहीं।

१८ मई, १९२९

स्वप्न में एक सन्त को देखा। प्रेम के आवेग में मैंने रोना आरम्भ कर दिया।

१९ और २० **मई**, १९२९

कोई परिवर्तन नहीं।

२१ **मई**, १९२९

मेरे स्वप्न में एक प्रतिष्ठित सन्त मौजूद थे। उन्होंने कहा कि मेरा तत्व श्रद्धेय गुरु जी के तेजस् में प्रवेश कर गया है और मुझे उस तेजस् के सम्बन्ध में विचारशील होना चाहिये। मैंने सोच विचार किया कि मुझे तेजस् पर किस प्रकार ध्यान करना चाहिये। इसके बाद किसी ने मुझसे घर जाने को कहा। सन्त ने कहा कि मैं उनके साथ मोटर में जा सकता था।

२२ **मई**, १९२९

सन्ध्या समय मेरी हालत ऐसी हो गई थी कि मुझे लगा कि मैं स्वयं पूजा के योग्य हूँ और दूसरों के लिए यह उचित है कि वे मुझे पूजा अर्पित करें।

२३ **और** २४ **मई**, १९२९

तमाम दिन उपरोक्त दशा, कि अन्य लोग मेरे प्रति पूजा अर्पित करने के लिये हैं, बनी रही।

२५ से २८ **मई**

दशा अपरिवर्तित।

२९ **मई**, १९२९

स्वप्न देखा कि मैं एक इक्के पर अपने गुरु जी के निवास-

स्थान पर जा रहा हूँ। मार्ग में एक फ़क़ीर हाथ में छड़ी लिये मुझे मिले। मैंने उनकी छड़ी छू लिया। वे भी मेरे साथ हो लिये और मेरे गुरु जी के साथ बैठने का लाभ उठाया। प्रणामोपरान्त मैंने अपने गुरु जी का चरण स्पर्श किया। उन्होने कहा कि मुझे उनका पैर नहीं छूना चाहिये। इसके बाद मुझे और कुछ याद नहीं।

३० मई से ३ जून, १९२९

दशा अपरिवर्तित।

४ जून, १९२९

स्वप्न देखा कि मैं किसी सन्त के साथ फ़तेहगढ़ जा रहा था और एक भीड़ भी मेरे साथ चल रही थी। ऐसा लगता था कि उस स्थान से फ़तेहगढ़ कई दिनों की यात्रा थी। सभी मन्जिलों को पार करता हुआ मैं एक स्थान पर पहुँचा। वहाँ से फतेहगढ़ दूसरी मन्जिल पर था। अन्तिम मन्जिल के एक मन्जिल पहले ही कुछ दृष्टिगोचर होने लगा था किन्तु अचानक सन्त जी बीमार पड़ गये। अत: मैं उस स्थान से आगे न बढ़ सका। कुछ समय बाद मैं जाग गया।

५ से ७ जून, १९२९

दशा अपरिवर्तित।

८ जून, १९२९

रात के समय अनेक अनुभव हुये थे जो मेरे ख्याल से मेरी दशा को प्रकट करने से सम्बन्धित थे। प्रात: जागने पर मैं सब कुछ भूल गया।

१५ अगस्त, १९२९ को मैंने श्रद्धेय महात्मा जी को एक अन्य

सन्त के साथ एक स्वप्न में देखा। सन्त जी मुझे प्राणाहुति दे रहे थे और अत्यन्त शान्ति छाई हुई थी। श्रद्धेय गुरु जी ने उन सन्त से एक ऐसी प्राणाहुति मुझे देने को कहा जिससे मुझे नींद न आ सके। वहाँ एक अन्य धार्मिक सज्जन भी थे। वे कदाचित एक सन्त के साथ भोगाँव में रहते थे। उन्होंने बताया कि महात्मा जी प्रत्येक व्यक्ति को अपनाने जा रहे थे और उन्होंने अनुरोध किया था कि कम से कम एक व्यक्ति वे उनके लिए छोड़ दें। इस पर महात्मा जी हँस पड़े और कुछ कहा नहीं (तिथि याद नहीं)। मैंने दूसरा स्वप्न देखा। मैं स्कूली बच्चों के साथ कहीं जा रहा हूँ और आप तथा एक अन्य सन्त भी साथ हैं। आपने मुझमें एक प्राणाहुति दिया। चलते-चलते मैं एक स्थान पर पहुँचा जहाँ एक रास्ता बना है और दूर एक विस्तृत घास-विहीन मैदान फैला हुआ है। वहाँ जल नहीं, पर भीगेपन का वह एक झूठा भाव देता है। उसको देखने से लोग बड़ी ताज़गी और शान्ति का अनुभव करते हैं। संक्षेप में, स्वप्न में मैंने टहलने का एक अच्छा आनन्द उठाया। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ याद नहीं।

रास्ते में हमें एक नदी मिली जो बहुत चौड़ी थी। बीच से कुछ ही दूरी पर एक मार्ग बन गया था जो अत्यन्त नीचा था और धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठता सा था। मैं और आप, दोनों ने, उस नदी को पार किया। मार्ग में कुछ पानी भी था। हम लोगों ने सोचा कि हमारे पैर भीग जायेंगे पर जल का कोई असर नहीं हुआ। न तो हमारे वस्त्र और न पैर ही भीग सके। तब मैं अपने बैठक में आया जहाँ हमारे पिताजी बैठा करते थे। वहाँ पर एक महान मुस्लिम फ़कीर, एक दूसरे सन्त और एक व्यक्ति के साथ मौजूद थे। मैं उस व्यक्ति को नहीं पहचानता था। महान मुस्लिम फ़कीर ने उस व्यक्ति से हमारी रीढ़ का निरीक्षण करने को कहा। अतः मेरी कमीज उतार दी गई तथा

निरीक्षण किया गया। वे मुझसे प्रसन्न से लगते थे। उन्होंने बताया कि मेरी दशा बहुत अच्छी थी और अपने गुरु के प्रति मेरे प्रेमभाव का भी कुछ संकेत किया। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि मैं महात्मा जी महाराज से प्रार्थना करूं कि वे मुझ नाचीज का खास ख्याल रखें तथा मुझे विशेष उपदेश या निर्देश दें। तदनुसार मैंने श्रद्धेय लाला जी साहब से निवेदन किया। उन्होंने भी मुझे अपनी हालत के सम्बन्ध में उनको बराबर सूचित करते रहने को कहा। उस समय उनके कहने का मतलब मुझे लगा कि मुझ नाचीज़ के लिए उनकी आज्ञा थी कि मैं उनकी तरफ़ भी मुखातिब रहूँ।

१ नवम्बर, १९२९

दोपहर समय अवस्था गम्भीर हो गई। रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं लखनऊ में एक ताँगे में जा रहा था। मैं रास्ता भूल गया। महात्मा जी आये और मार्गदर्शन किया। तब मैं सही रास्ते पर आया। वहाँ पर एक कोठी थी और विभिन्न प्रकार के वृक्ष थे। मैंने उनकी ओर कोई ध्यान न दिया। वहाँ से चलने पर मैं कहीं पर किसी कमरे में पहुँचा। कमरे का दरवाजा बाहर से बन्द था। कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था। महात्मा जी महाराज ने दरवाजा खोला और मुझे बाहर ले गये। हमें ऐसा लगा कि बारह वर्षों के लिए मुझे जंगल में एकान्तवास दिया गया है और यही कारण था कि वह विपदा मुझ पर पड़ी थी। पाण्डवों के वनवास का चित्र मेरी आँखों के सामने चित्रित हो उठा। मुझे लगा कि मैं पाण्डवों में से एक हूँ। अर्जुन जंजीर में जकड़े हुए हैं। भीम रसोई के पास बैठे हुए हैं। अर्जुन की यह दुर्दशा देखकर मुझे बड़ा रंज हुआ क्योंकि मैं स्वयं अपने आपको पाण्डवों में से एक समझता था। मुझे यह याद नहीं कि

मैं अपने को भीम अथवा नकुल या अन्य किसी भाइयों में से समझता था। अर्जुन को जंजीर में जकड़ने वाले को मैंने सजा देना चाहा। परन्तु भीम के द्वारा मुझे मालूम हुआ कि बारह-वर्षीय बनवास की समाप्ति में केवल पाँच मिनट शेष हैं। अतः मैंने अपने आपको रोक लिया। बारह वर्षीय काल समाप्त हुआ और मैं जाग पड़ा। स्वप्न में मेरे तथा पाण्डवों के विचारों में केवल यही अन्तर था कि पाण्डव श्रीकृष्ण महाराज को अपना मालिक समझते थे और मैं अपने गुरु जी महाराज को अपना मालिक समझता था।

२ नवम्बर, १८२८

दशा अपरिवर्तित। रात्रि समय 'मैं ही मालिक हूँ' की दशा रही।

३ नवम्बर, १८२८

मध्याह्न समय दशा गम्भीर हो गई और ऐसा लगा कि सिर से पैर तक विचार की धारा उतर रही थी तथा अनहत विद्यमान था। शरीर के भीतर गूँजते हुए ध्वनि-कम्पनों का सृजन हो रहा था। रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं एक पुल पर दो भाइयों (सहयोगियों) और एक फकीर के साथ बैठा हूँ। फ़कीर ने मुझमें प्राणाहुति देना चाहा परन्तु भाइयों में से एक ने उन्हें बताया कि मैं दीक्षित हो चुका था और इसलिये वे मुझे प्राणाहुति नहीं दे सकते। फ़कीर ने इसकी परवाह न की और मुझमें प्राणाहुति दिया। परन्तु वह बेकार था। पुनः उन भाइयों में से एक ने मुझमें प्राणाहुति देना आरम्भ किया परन्तु दूसरे भाई ने सम्पूर्ण का शोषण स्वयं कर लिया। प्राणाहुति देने वाले भाई ने मुझे सूचित किया कि वे

मेरी ओर मुखातिब होना अत्यधिक चाहते थे परन्तु अन्य लोगों ने उन्हें वैसा करने से रोक लिया। उदाहरणार्थ, प्राणाहुति मुझे दी जा रही थी परन्तु दूसरा उसका शोषण कर रहा था।

अनहत—दैवी मण्डलों का गीत।

एक ध्वनि है जो सदा नित्य रूप से मौजूद रहती है और सुनाई नहीं पड़ती। केवल वे ही लोग इसे सुन सकते हैं जिन्होंने ईश्वरीय कृपा से आन्तरिक ज्ञान विकसित कर लिया है। यही **अनहत अजपा** है।

हम हृदय पर ध्यान करते हैं। ध्यान में हम स्वाभाविकतया उत्तरोत्तर गहराई में जाते हैं जब तक कि हम प्राकृतिक कम्पनों तक, जो 'ॐ' ध्वनित होते हैं, नहीं पहुँच जाते हैं। यह एक संकेत है कि हमने 'ऊपर' का स्पर्श करना आरम्भ कर दिया है जो अन्ततोगत्त्वा अपना गुण स्वयं प्रकट करता है। जब अजपा हृदय में मालूम होता है तो यह चक्रों पर अपना जोर डालता हुआ चारों ओर यात्रा करता है जब तक कि पूरे शरीर में वह मालूम नहीं पड़ जाता। अपनी यात्रा में जब मनुष्य त्रिकुटि तक पहुँच जाता है और यदि वहाँ प्राणशक्ति पूर्णरूप से आवेशित है तब अनहत वास्तव में आरम्भ होता है। फिर भी, यदि अभ्यासी की पहुँच त्रिकुटि तक होने पर भी अनहत आरम्भ नहीं होता तो यह गुरु का कर्तव्य हो जाता है कि वह उसे उसी बिन्दु से आरम्भ कराए। यही उसके लिए सर्वथा उपयुक्त समय है। इसके पूर्व भी यह किया जा सकता है परन्तु केवल गुरु ही इसका निर्णायक है।

४ नवम्बर, १९२९

स्थिति अपरिवर्तित।

५ नवम्बर, १९२९

१० बजे दिन में मैं एक इक्के पर कचहरी जा रहा था।

रास्ते में एक सशक्त विचार आया कि "मैं ही गुरु हूँ"। मुझे लगा कि मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मालिक हूँ और सारा संसार मेरी आज्ञाओं पर चल रहा है। मैंने अपनी इस दशा का वर्णन अपने उस पत्र में कर दिया है जिसे आप पढ़ चुके हैं।

६ नवम्बर, १९२९

"मैं ही गुरु हूँ" का विचार बना रहा।

१० नवम्बर, १९२९

कोई परिवर्तन नहीं।

११ नवम्बर, १९२९

अन्तर्दशा बर्हिमुंख हुई। ऐसा ११ बजे दिन में हुआ।

१२ नवम्बर, १९२९

१० बजे प्रातः कुछ बेचैनी महसूस हुई। किसी जंगल में बैठने तथा गृहस्थी की चिन्ताओं से, जिन्होंने मस्तिष्क में गर्मी पैदा कर दिया था, मुक्ति पाने की इच्छा हुई। सन्ध्या समय अधिक क्रोध आया और उसका प्रभाव लम्बे अर्से तक रहा।

१३ नवम्बर १९२९

आत्मविस्मृति की अवस्था अपरिवर्तित। दोपहर बाद वह और गम्भीर हो गई।

१४ से १६ नवम्बर १९२९

कोई परिवर्तन नहीं। दोपहर को खुशी महसूस हुई।

२० नवम्बर, १९२९

दस बजे दिन में ऐसा लग रहा था कि सभी आत्माएँ गुरु जी

महराज से निकली थी। थोड़े समय तक यह दशा बनी रही। दोपहर को इसमें गम्भीरता आ गई थी। ऊपर लिखी हालत बहुधा आगे आ जाती है पर स्थिरता नहीं होती।

२१ से २३ **नवम्बर**, १८२८

दशा अपरिवर्तित। गंभीरता बढ़ गई।

२४ **नवम्बर**, १८२८

दिन में अधिक गम्भीरता बनी रही और ऐसा लगता था कि मेरी प्रवृत्तियाँ जागृत कर दी गई थीं और पारब्रह्माण्ड से सम्बन्धित थीं।

२५ **नवम्बर**, १८२८

प्रातः मैं दवा लेने के लिए एक वैद्य के घर गया। मैं एक नजदीकी रास्ते से, जो एक क़ब्रिस्तान से होकर गुजरता था, गया। वैद्य के घर मैं पहुँचने ही वाला था कि एक आध्यात्मिक अवस्था आरम्भ हो गई जिसमें गुरु महाराज का तेजपुंज चारों ओर फैला हुआ था और इस तेज की हालत बहुत आनन्दमय थी। यह विचार आने लगा था कि यह मैं ही था जिसने वृक्षों को उगाया और उन्हें फल देने योग्य बनाया, पृथ्वी को उपजाऊ-पन प्रदान किया, इत्यादि, इत्यादि। मैंने इस अनुभूति को कायम रखने का प्रयत्न किया पर आनन्द केवल लगभग दो घण्टे तक कायम रहा और फिर घटने लगा। अस्तु, यह हालत जंगल में अधिक अनुभव में आती थी, बस्तियों में कम।

२६ **नवम्बर**, १८२८

हालत अपरिवर्तित।

२७ **नवम्बर, १८२८**

स्वप्न में गुरु जी महाराज तथा एक अन्य सन्त को देखा। स्वप्न तो विस्मृत हो गया पर इतना भर याद है कि मैं इससे लाभान्वित हुआ।

२८ **नवम्बर, १८२८**

रात में सोने जाते समय ऐसा महसूस हुआ कि अतीत के सन्तों के साथ एक विचारपंक्ति जुड़ी हुई है और वे मेरी ओर मुखातिब हैं। उनकी आँखें मुझ पर लगी हैं। रात्रि में स्वप्न देखा कि एक बगीचा है जिसमें एक मन्दिर है और मन्दिर के निकट एक चबूतरा है। भगवान कृष्ण उस पर खड़े हैं। वे मुझे देखकर उतर आये और मेरा आलिंगन किया। मैं गुरु जी महाराज के प्रेम में विभोर हो गया और उनकी याद में रोने लगा। एक अद्भुत चीज, जिसे मैंने महसूस किया, यह थी कि आलिंगन करते समय भगवान श्रीकृष्ण मेरे शरीर में लय हो गये थे और लयोपरान्त मुझे लगा कि सिर से पाँव तक मेरा शरीर सूक्ष्म हो गया था। जिस प्रकार एक पहलवान एवं डील-डौल का पुजारी अपने शरीर में शक्ति का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार मैं अपने सूक्ष्म शरीर को महसूस कर रहा था। इस स्वप्न के बाद नींद में भी मैं अपने को पूरा जगा हुआ पाता। शरीर की सूक्ष्मता का यह भाव रात भर बना रहा और जागने पर भी मालूम होता था।

२९ **नवम्बर, १८२८**

दशा अपरिवर्तित। सात बजे सन्ध्या को मुझे लगा कि अतीत के सन्तों की आँखें मुझ पर लगी हुई हैं। मैंने इसका अनुभव उस समय किया जब मैं ध्यान में था।

३० नवम्बर, १८२८

साढ़े दस बजे दिन में मैं कचहरी जा रहा था। उस समय मैंने अनुभव किया कि मैं ब्रह्माण्ड का मालिक हूँ। इन दिनों यह ईश्वरीय दशा हर समय बनी रहती है। विचारों के जाल में तनिक भी क्रियाशीलता आने पर इस भाव का क्रम आरम्भ हो जाता है।

दोनों संसार के श्रद्धेय पथ-प्रदर्शक ! ईश्वर आपका भला करे !

प्रणामोपरान्त यह निवेदन करना है कि मैं उन अवस्थाओं से आपको अवगत कराना आवश्यक समझता हूँ जो मुझमें निकट अतीत में थीं अथवा वर्तमान में बनी हुई हैं।

१ नवम्बर १८२८ को लगभग ८ बजे रात्रि में एक आंतरिक दशा फैली और इसके द्वारा मेरी अपनी दशा का एक चित्र आँखों के सामने आया। वह दशा सिर से पाँव तक पूरे शरीर में फैली रही। उस दशा में विचार एकरस होकर लय हो गया था; अर्थात् वह उसमें डूब गया था। वह दशा "मैं ही गुरु हूँ" का भाव सिर से पैर तक पैदा कर रही थी। अर्थात् सभी वस्तुएँ उस दशा में विलीन हो जाने के कारण सत्य हो गई थीं और उसका उद्घोष "मैं ही गुरु हूँ" से चुपचाप, पर उत्साह के साथ, कर रही थीं। साहस असीमित था। मैं सभी कुछ कर सकता हूँ, का भाव मौजूद था। मै अपने को सभी चीजों का स्वामी समझता था। कुछ समय के लिए मैं इसी विचार में डूबा रहा किन्तु असीमित साहस होना और ऐसे विचार आना मैं 'अहं' समझता था। इसलिए उस डूबी हुई

अवस्था से बाहर निकलने पर मैं हल्के विचारों की तरफ ध्यान बनाये रहा जिससे अनन्त शक्ति एवं अधिकार के विचारों (जिन्हें हमने अहं समझ रखा था) का अनुभव हमें न हो सके।

इस विषय की ओर मेरा ध्यान कुछ समय तक के लिए बँटा रहा। बाद में रात में भोजनोपरान्त सोने के लिए चला गया। लगभग १० बजे रात्रि में मैंने एक भजन "मेरे तो ईश्वर हैं और कोई नहीं" गाना आरम्भ किया। फिर वही हालत आ गई। दिन में भी ऊपरलिखित हालत बहुधा महसूस होती है। आत्मविस्मृतता का अनुभव होता है। विस्मृतता एवं समभाव की दशा अधिकतर बनी रहती है और मुझे विलयन का भास कराती है।

८-११-१९२९ को मुझे ऐसा लगा कि नगर में जो घटनाएँ घट रही हैं सब मेरे अन्दर हिलतीं डुलती सी लगती हैं। किसी व्यक्ति का ख्याल आने पर अथवा किसी के मिलने पर उसका चरित्र और उसके भविष्य जीवन की तमाम तकलीफ़ और आराम मेरी आँखों के सामने आ जाते हैं। यदि विचार अधिक शक्तिशाली हो गये तो उनके दूसरे जन्म में भी जो कुछ होने वाला है मेरे सम्मुख स्पष्ट होने लगता है। मैं इस दशा के प्रति कोई सावधानी नहीं बरतता। नगर में होने वाली घटनाएँ और वहाँ का वातावरण निरन्तर लहरें पैदा करता है। इसके कारण बहुधा दर्द हुआ करता है और कभी-कभी वह शान्त जल में एक पत्थर की भांति कार्य करता है। ऐसी अवस्थाएँ

अकसर तेजी से आती हैं और मैं आप महानुभाव को यथोचित सूचित करता रहा हूँ क्योंकि मेरी छोटी बुद्धि में वह दशा मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं थी और एक फन्दे की भाँति लगती थी। वह स्थिति अधोलिखित पंक्तियों के अनुसार है :—

"बुद्धि को प्रकाशित करने वाले !
आप मेरी व्यथा बन गए हैं।"

इस समय घटनाएँ जो घट रही हैं तथा घटनाएँ जो लहरें बना रही हैं अर्थात् जो अभी तक घटित नहीं हुई है, दोनों अनुभव की जा रही हैं। कोई शक्ति निश्चितरूप से मेरे विचार को ऐसी घटनाओं की ओर जाने से रोकती है और नगर में जो घटनाएँ घट रही हैं या भविष्य में जो घटित होंगी उन्हें जानने में सहायता नहीं देती। विचारों को यह शक्ति जंजीरों में जकड़ देती है। फिर भी विचार किसी हद तक उन तक दौड़ता है और लहरें पूर्ववत् बनी रहती हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु जो आप महानुभाव की दृष्टि में लाना है वह इस प्रकार है : (यह मेरी नैतिक अवस्था आपके समक्ष खोलेगी)। मैं घर में इतना अधिक तंग किया जाता हूँ कि कभी-कभी घर से भाग जाने की इच्छा होती है और कभी मेरा विचार स्वयं अपने को क्षति पहुँचाने का होता है, यद्यपि मैं असहाय हूँ। ज्यों ही मैं अपने घर पहुँचता हूँ कोई न कोई ऐसा तरीका अख्तियार किया जाता है जिससे मुझे बेकार का क्रोध आ जाता है या मैं अभद्रता करने के लिए बाध्य हो जाता हूँ। इसी कारण मुझमें क्रोध

की आदत पड़ गई है। इसके कारण मुझे बहुत हानि उठानी पड़ती है; उदाहरणार्थ : कुछ वस्तुओं का तोड़ा जाना। क्रोध अधिकांशत: अपने घर तक ही सीमित है। एकान्त में जब ईश्वर विशेषत: मेहरबान होता है, मुझे सान्त्वना मिलती है। अन्यथा कोई चीज सामने रखी जाती है जिसको अंगीकार करना तर्क अथवा इच्छा के विरुद्ध है और जिसको न करना श्रेयस्कर है। ऐसी बातें अधिकतर जब मैं कचहरी से लौटता हूँ या कड़ी मेहनत के बाद थक जाता हूँ, हुआ करती हैं। किसी ने कहा है "घर के काँटे गुलाबों एवं Raihan से अच्छे हैं।" क्रोध बड़ी जल्दी उबल पड़ता है, और छोटी बातों पर। लेकिन जब वह शान्त हो जाता है तो कोई शत्रुता अथवा विद्वेष नहीं रहता बल्कि मुझे उसके पाँव स्पर्श करने की चाह होती है। घर में क्रोध का आदी हो जाने के कारण क्रोधित होने के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढ़ लिया जाता है। कुछ महीने पीछे यह आदत काफ़ी सीमा तक कम हो गई थी। अब यह बहुत बढ़ गई है। स्वभाव बहुधा चिड़चिड़ा हो गया है। अनेकों आध्यात्मिक समस्याएँ एवं असाध्य प्रस्ताव अपने आप उपस्थित हो जाते हैं परन्तु जब पवित्रता अधिक मात्रा में होती है तो वे हल हो जाते हैं। वे विचार जिन्हें मैं समय-समय पर अपने सन्तों से सुनता आया हूँ यूक्लिड (Euclid) के स्वयं-सिद्ध प्रमाणों की भाँति गुत्थियों को सुलझाने में मदद देते हैं और अँधेरे रास्ते में दीपक का काम करते हैं। लेकिन ऐसी वस्तुएँ मुझे कोई आनन्द नहीं देतीं क्योंकि

मेरा उनकी ओर तनिक भी रुझान नहीं है। मेरा एकमात्र नाता अपने मालिक से है।

ईश्वर आप पर अपनी अनन्त कृपा बरसाये !

उचित प्रणाम के पश्चात् मुझे यह निवेदन करना है कि अपनी दैनन्दिनी आपके अवलोकनार्थ आपके सम्मुख प्रस्तुत करने के पूर्व मैं संक्षिप्त रूप में कुछ दशाएँ अंकित कर रहा हूँ। स्वामित्व तथा सर्वशक्तिमानता के विचार सदा मौजूद रहते हैं, उदाहरणार्थः यह विचार कि मेरे ही कारण पेड़ों में विकास है; मैं प्राणियों में जीवन दान देता हूँ और संसार के सभी कार्य-कलाप मेरी शक्ति के द्योतक हैं। मैं सारे ब्रह्माण्ड का मालिक हूँ; सूर्य में गर्मी मुझसे है; संसार में मेरा ही प्रकृतिनियम कार्य कर रहा है, इत्यादि। गीता में भगवान कृष्ण द्वारा वर्णित इन दशाओं की अनुभूति मुझे हो रही है और वे अनन्त मालूम पड़ती हैं। प्रेम विश्वव्यापी होता जा रहा है। अलगाव का पर्दा गायब हो गया है। दूसरों की त्रुटियाँ एवं खामियाँ निगाह में नहीं आतीं। मैं स्वयमेव प्रत्येक क्षण मनुष्य की भलाई एवं कल्याण के लिए प्रार्थना करता हूँ। जो कुछ मुझे मिलता है मैं सबके साथ ग्रहण करता हूँ। जब मैं किसी को मुसीबत में पाता हूँ अथवा किसी को सांसारिकता अथवा दुष्टता के किसी विचार विशेष में फँसा पाता हूँ तो मेरे हाथ प्रार्थना के लिए उठ जाते हैं। मानों यह मेरा दूसरा स्वभाव सा बन गया है। मैं बाहर और भीतर एक सी ही दशा महसूस करता हूँ; अर्थात्, मस्तिष्क में आध्यात्मिकता की ओर

दौड़ने वाला विचार इतनी सूक्ष्म अवस्था में मालूम पड़ता है कि उसकी तुलना किसी सूक्ष्म वस्तु से भी नहीं की जा सकती। उसमें न तो कोई रंग है, और न कोई तेजी। वह सदैव उसी अवस्था में रहता है। वही दशा सारे संसार में व्याप्त मालूम पड़ती है पर एक अत्यन्त सूक्ष्म तरीके से। किसी की अवस्था विशेष के प्रति मै सदा प्रतिष्ठावान रहता हूँ।

१ दिसम्बर, १८२८

कानपुर के लिए रवाना। यात्रा में आनन्द का अनुभव हुआ।

२ दिसम्बर, १८२८

दोपहर के बाद से कानपुर में ठहरा। गम्भीर आनन्द का अनुभव हुआ।

३ से ५ दिसम्बर, १८२८

दशा अपरिवर्तित।

६ दिसम्बर, १८२८

प्रातःकाल से ही यह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक अंग में ईश्वरीय अवस्था विद्यमान थी और प्रत्येक के प्रति प्यार मालूम हुआ। ऊपर की ओर सिर पर ध्यान करने से लगा कि कोई अनन्त तेजपुंज सिर पर उतर रहा था और ईश्वर की याद में संलग्न एक सन्त वहाँ पर बैठे हुए थे।

७ दिसम्बर, १८२८

ऊपर की अवस्था अपरिवर्तित। रात्रि में एक स्वप्न देखा

कि मेरे गुरु जी चारपाई के सिरहाने बैठे हुए थे और मैं पैताने बैठा हुआ था। उन्होंने बताया कि वे मुझ पर बहुत प्रसन्न थे क्योंकि मैंने बड़े परिश्रम से कार्य किया था और अपने कठोर परिश्रम के ही कारण उनमें लय हो गया था। उन्होंने मेरे चेहरे के उस स्थान पर अपना हाथ रखा जहाँ दाढ़ी निकलती है। फिर उन्होंने मेरे चेहरे के कुछ हिस्से जो उनके चेहरे से मिलते थे, मुझे बताया और उन्होंने मुझे एक वरदान दिया।

८ दिसम्बर, १९२९

लगभग १० बजे प्रातः ऐसा लगा कि मेरा विचार एक ऐसे स्थान को जा रहा था जहाँ घोर अन्धेरा था। इस अँधेरेपन के रंग की तुलना अरुणोदय के (भोर के) उस समय से की जा सकती है जब मनुष्य का चेहरा भी नहीं दिखाई पड़ता। उसी दिन मैं बरनई गाँव चला गया। वहाँ दोपहर को मैंने अनुभव किया कि एक सूक्ष्म धारा मेरे शरीर से निकल रही थी जो सारे संसार को ताजगी एवं जीवन दे रही थी।

९ दिसम्बर, १९२९

प्रातः ८ बजे मुझमें अलगाव की भावना अधिक थी और मैं ऋषिकेश के लक्ष्मण झूला की पहाड़ियों में जाने को उत्सुक हो उठा। उसके साथ मालिक की क्रीड़ा का एक काल्पनिक चित्र बन गया था; मैं एक पागल की भाँति उनके साथ खाना खा रहा था और ऐसे कार्य कर रहा था जो बच्चे साधारणतया किया करते हैं। उसी दिन लगभग साढ़े ११ बजे प्रातः कचहरी छोड़कर किसी अन्य स्थान को भाग जाने की इच्छा हुई जहाँ बिल्कुल एकान्त हो। नजदीक कोई ऐसा स्थान न था। अतः मैं रेल के पुल के पार लोधीपुर गाँव के किसी विस्तृत खेत में ईश्वर की

याद में बैठने का इच्छुक था। परन्तु ऐसा लगता था कि लगाम किसी दूसरे के हाथों में थी जो मुझे जाने की आज्ञा नहीं दे रहा था। सन्ध्या समय ऐसा लगा कि प्रत्येक मनुष्य मालिक के रूप का था। उनका अस्तित्व प्रत्येक जीवधारी, खनिज पदार्थ एवं वनस्पति में प्रकाशमान था। यह दशा सन्ध्या के ६ बजे तक बहुत गम्भीर हो गई।

१३ दिसम्बर, १८२८

हालत अप्रिय बनी रही।

१४ दिसम्बर, १८२८

११ बजे तक हालत अप्रिय थी। ऐसा लगा कि वह एक दैवी आनन्ददायक अवस्था थी। एक बजे के बाद आनन्द का अनुभव हुआ परन्तु वह लेखाकक्ष (Record room) में भंग हो गया। उसके बाद हालत कुछ आसान सी लगी, इतनी अधिक कि दूसरे दिन खोखलापन बढ़ गया था।

१५ से १७ दिसम्बर, १८२८

हालत सुहावनी थी और सूक्ष्मता बढ़ी हुई।

१८ से २३ दिसम्बर, १८२८

हालत में कोई परिवर्तन नहीं।

२४ से ३१ दिसम्बर, १८२८

एक गाँव में ठहरा जहाँ मैं दैनन्दिनी न लिख सका। मैं दुबारा कह रहा हूँ कि मुझे ऐसा लगता है कि मैं ऊपर की दुनिया से सीधा जुड़ा हुआ हूँ। पहले मैं ईश्वर को देखा करता था अब ईश्वर मुझे देखता है। अतीत के सन्तों की आँखें सीधे मुझ पर

केन्द्रित हैं और मै अक्सर उनकी आँखों में दैवी ज्योति देखता हूँ।

मालिक का उत्तर

मेरे प्यारे भाई !

आपकी तरक्की की दुआओं के साथ मेरा यह कहना है कि जो कुछ आपने अपनी प्रगति एवं तरक्की की हालत के सम्बन्ध में लिखा है, ईश्वर मंगलमय बनाये ! वे अहं के द्योतक नहीं प्रत्युत वे उत्साहवर्धक हैं। आपको उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। वे फिर गायब हो जाएँगे। यदि वे ईश्वर के कारण समझे जाते हैं तो उसमें कोई अहंकार नहीं। चूँकि वे ईश्वर की ओर से हैं, उसमें किसी का हाथ नहीं। "यह वरदान यदि कृपालु ईश्वर द्वारा न दिया जाय तो शक्तिबल द्वारा यह कदापि नहीं प्राप्त किया जाता।" दशारहितता की अवस्था अच्छी एवं स्थायी है। संतापित किया जाना अच्छा है। घर विनम्रता एवं धैर्य की पाठशाला है। एक प्रकार के विचारानुसार इन वस्तुओं में धैर्य तपस्या समझी जाती है और वह अन्य प्रकार की तपस्याओं से श्रेष्ठतर है। इसलिए क्रोध एवं दुख के बजाय मनुष्य को "गैरत" का आश्रय लेना चाहिए। पश्चात्ताप वह भावावेश है जब कोई व्यक्ति दूसरों के द्वारा डाँटे या गाली दिये जाने पर समझता है कि वह स्वयं ही कसूरवार है। तब उसे धैर्य का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरों को धैर्य, सहनशीलता एवं सांसारिक दुखों से छुटकारा पाने के लिए जंगल, एकान्तवास एवं अकेलापन साधन हैं। परन्तु हम लोगों के लिये कुटुम्ब

नोट :—गैरत एक भाव है कि मनुष्य स्वयं कसूरवार है, यद्यपि वह वास्तव में कसूरवार नहीं है।

के सदस्यों, मित्रों एवं सांसारिक पुरुषों की झिड़कियाँ, व्यंग और डाँट-फटकार ही सच्ची तपस्या है। ईश्वर ने चाहा तो विनम्रता एवं समर्पण भी प्राप्त होंगे।

श्रद्धेय महात्मा जी महाराजा द्वारा मेरे पत्र का उत्तर

प्यारे भाई !

दुआएं ! आपका पत्र मिला। हृदय प्रसन्न हुआ। ईश्वर अपनी दुआएं एवं स्नेह आपको दे और ऊँची अवस्थाओं तक ले जाए ! एक समय था जब मुझे इस बात की चिन्ता थी कि हमारे सहयोगियों में से यदि कोई ऐसी उन्नति न कर सके जो अतीत के सन्तों के चरण रज के योग्य हो तो कम से कम मुझ नाचीज के लिए कोई कलंक तो न हो। ईश्वर धन्य है ! महान सन्तों की दुआओं से अब ऐसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे लोग ईश्वरीय दुआओं का उपभोग करते हैं और यह भी बहुत सम्भव है कि आप भी उनमें से एक हों यह सब, सन्तों की देन है। पर यह वरदान शक्तिबल के कारण नहीं। जब तक परम-कृपालु ईश्वर द्वारा यह नहीं दिया जाता, यह प्राप्त नहीं किया जा सकता। आपके प्रिसेप्टर का प्रेम, संग तथा प्यार यथेष्ट समझा जाना चाहिए। वास्तव में वे एक प्रेमी व्यक्ति हैं। केवल प्रेम ही शक्तिमान एवं संचालन शक्ति है। ईश्वर आपको तथा औरों को अपनी दयालुता के साए में रखे !

मुझे प्रिय रामेश्वर प्रसाद से बड़ी आशाएँ हैं। वे भी एक प्रेमी व्यक्ति हैं। ईश्वर की सर्वव्यापक दयालुता

उन्हें महान सन्तों की संरक्षता एवं प्रेम प्रदान करे जिससे उनका ध्येय तथा निश्चयता एक स्थायी रूप धारण कर सके। भाई ! शिष्यगण असंख्य हैं और पथ-प्रदर्शक बहुत दुर्लभ। आजकल शिष्यगण भी बहुत ही कम मिलते हैं। यह ऊँचे सन्तों का वरदान है कि हमारे सहयोगियों तथा शिष्यों में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता, अन्यथा, एक शिष्य होना बहुत कठिन है। जब कभी सहयोगी लोग संगपन का असर प्राप्त करते हैं अथवा दृष्टिपात (निगाह) की मन्द वायु महसूस करते हैं तो वे, कुछ समय के लिए, जगा दिए जाते हैं, और फिर जब जोश कुछ मन्द पड़ जाता है तो खिसक जाते हैं और सत्सङ्ग में सम्मिलित होना बन्द कर देते हैं। उनका निजी लगाव तथा प्रेमभाव केवल नाम के लिए है। पर यह भी काफी है कि जब कभी कोई लहर आती है वे लहराना आरम्भ कर देते हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी निश्चयता के पैर बगैर किसी प्रोत्साहन के भी दृढ़ रखते हैं। अमुक-अमुक व्यक्तियों के विरुद्ध क्या शिकायत है ? वे अफीम, चरस व गाँजे के साथी हैं। यदि ये वस्तुएँ इस्तेमाल की जाती हैं तो वे मौजूद रहते हैं। (वे किसके मित्र हैं ? वे केवल पीते हैं और चम्पत हो जाते हैं।) जब ईश्वर की कृपा उतरती है तब उन्हें भी एक त्वरित आवेश आता है। फिर वे अपनी पुरानी स्थिति को लौट जाते हैं। पण्डित……के विषय में क्या शिकायत है ? मैं समझता हूँ कि शायद पूरे एक साल में वे अनुमानतः दो महीने जोशीले हो जाते हैं। तिस पर भी कभी अखबार के लिए और कभी ड्रामा के लिए उन्हें सनक सवार हो जाती है। सच्चाई तो यह है कि केवल वही सफल होता है जिसे

वह (ईश्वर) आकर्षित करता है। हम और आप बेकार हाथ-पैर मारते हैं। ठीक समय आने पर वे सभी लोग धीरे-धीरे सही रास्ते पर आ जाएँगें। प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार एवं भावनाएँ विभिन्न होती हैं। तदनुसार प्रत्येक के लिए एक अलग समय होता है। मैं इलाहाबाद जाने का इरादा कर रहा था पर अब बृद्ध हो गया हूँ। वहाँ अधिक ठण्डक है। अतः साहस नहीं होता। मालगाड़ी में एक प्रशिक्षक को तकलीफों के साथ लादा जाना ठीक नहीं समझा गया। इसलिए मैंने फिलहाल वहाँ जाने का विचार छोड़ दिया है। मैं नहीं जानता कि मित्रगण जो बड़ी उत्सुकता से मेरी वहाँ इन्तजारी कर रहे थे और जिन्होंने मेरे सभी सुख सुविधाओं का पूरा उत्तरदायित्व ले रखा था, क्या सोचेंगे ? अब मैं कोंच जाने की सोच रहा हूँ, जब कभी भी इस सम्बन्ध में उसकी (ईश्वर की) कृपा होगी और मेरा अन्न-दाना मुझे वहाँ ले जाएगा। फरवरी में इलाहाबाद जाऊँगा। हाल में ही यूरोप के डाक्टरों ने पता लगाया है कि चेहरे पर काफी बाल हों (जिसे दाढ़ी कहते हैं) तो दाँत की बीमारियों से जूझने के लिए एक प्राकृतिक मदद मिल जाती है और तकलीफें कम हो जाती हैं। अतः यदि आपमें लोगों के व्यंग एवं झिड़कियाँ सहने का साहस हो तो बाल बढ़ने दीजिए। बच्चों को प्यार !

आप का शुभचिन्तक
राम चन्द्र
(फतेहगढ़ से)

———

६

१९३०

दोनों संसार के श्रद्धेय पथप्रदर्शक !

आप दीर्घायु हों !

प्रणामोपरान्त मुझे निवेदन करना है कि जनवरी १९३० की दैनन्दिनी प्रस्तुत करने के पूर्व । कुछ सारांश रूप में लिख रहा हूँ जो मेरी दशा पर प्रकाश डालती है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में अर्थात् खनिज, वनस्पति तथा जीवधारियों में मैं असली तत्व (Real Being) का प्राकट्य महसूस करता हूँ जिसका उल्लेख मैं अपनी पूर्व की दैनन्दिनी में कर चुका हूँ। अब अन्तर यह है कि यह हालत अधिक सूक्ष्म होती जा रही है अर्थात् यह अनुभव अत्यन्त सूक्ष्म अथवा बारीक होती जा रही है। लेकिन "संसार और कुछ नहीं केवल मित्र के मुख की परछाई है" की भावना छाई हुई है। अपनेपन की भावना बिल्कुल लुप्त हो गई है। ईश्वर ने मुझे मकान, जमींदारी इत्यादिक सांसारिक सुख दिए हैं परन्तु मेरा तनिक भी लगाव उनकी तरफ़ नहीं है। अर्थात् आपकी कृपा के कारण अब मैं किसी वस्तु के प्रति लगाव नहीं महसूस करता। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने कड़ियाँ तोड़ दी हैं। संसार एक

व्यवस्थित नाट्यशाला मालूम पड़ता है। लोग उसमें अपना-अपना अभिनय करते मालूम पड़ते हैं और मैं उनके खेल का आनन्द उठा रहा हूँ। इससे मुझे वही आनन्द मिलता है जो टिकट खरीद कर नाटक देखने से लोगों को होता है। प्रेम में एकरूपता सी लगती है। रिश्तेदारी का बन्धन टूटा सा लगता है। अपने नौकर के प्रति मेरे लिए वही इज्जत है जो अपने पूज्य पिता के लिए। दूसरे लोगों के पुत्रों के प्रति मुझमें वैसा ही प्यार है जैसा कि अपने पुत्र के लिए। मुझे अपने कुत्ते के लिए उतनी ही चिन्ता है जितना स्वयं अपने शरीर के लिए, मानों मेरा स्वयं का तथा एक कुत्ते का अस्तित्व एक समान है। मैं सोना और मिट्टी एक सा समझता हूँ। धर्मात्मा एवं दुष्ट को एक ही निगाह से देखता हूँ।

दूसरी अद्भुत बात यह है कि मैं बहुधा ईश्वर की रचना के प्रति प्रेमवश रोता हूँ और उनके जूठन को पवित्र प्रसाद मानता हूँ अथा उनके जूठनों को खाने के लिए बहुत इच्छुक रहता हूँ। कोई किसी भी जाति या धर्म का क्यों न हो, मैं उसके जूठन को प्रसाद रूप में लेना उचित समझता हूँ। अस्तित्व अनस्तित्व लगता है। इसके पूर्व मैं स्वयं अपने अस्तित्व को महसूस नहीं किया करता था और अब किसी का भी अस्तित्व महसूस नहीं होता। कुछ महीने पूर्व मैं अपने आपको श्रद्धांजलि देता था। अब मैं सम्पूर्ण संसार को श्रद्धांजलि एवं उपासना के योग्य समझता हूँ। मैं अन्दर और बाहर, दोनों, अन्धकार महसूस करता हूँ। सूर्य की रोशनी के बावजूद भी अन्धकार की भावना

बनी रहती है। मैं बाह्य पर, अन्दर का प्रभाव महसूस करता हूँ। कोई आश्चर्य नहीं यदि अन्तर एवं बाह्य एक हो जायं। ध्यान में एक चीज सदा महसूस होती है। वह यह है कि मालिक की दशा का प्रभाव मेरे अन्तःकरण में छाया हुआ है और वह प्राणाहुति से भिन्न है।

पिछले कुछ दिनों से मैं निरन्तर महसूस करता रहा हूँ कि अतीत के सन्तों के पवित्र अस्तित्व तथा मेरे अस्तित्व में एकरसता है। मैं इस अवस्था का और अधिक स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। सोते-जागते अथवा उठते-बैठते स्वयमेव आध्यात्मिक **लवलीनता** हो जाती है। किन्तु इससे भी सन्तोष नहीं होता और अधिक **लवलीनता** के लिए तड़प रहती है।

१ **जनवरी**, १८३०

दशा अपरिवर्तित, पर अधिक गम्भीर।

३ **से** ४ **जनवरी**, १८३०

कोई परिवर्तन नहीं।

५ **जनवरी**, १८३०

मनुष्यमात्र के लिए प्रेम अधिक गम्भीर रहा और मैं बहुधा रोया करता।

६ **जनवरी**, १८३०

१० बजे प्रातः भोजन करते समय मैंने यह महसूस किया कि संसार के लोग विशेषकर स्त्री और बेटे खुदगर्ज (स्वार्थी) थे। यह विचार बारम्बार एक अनुभव की भाँति आया।

७ जनवरी, १८३०

ऊपरलिखित हालत बनी रही और इस समय निम्नांकित दशा है :

मन तो शुदम तू मन शुदी
मन तन शुदम तू जाँ शुदी
ता कस न गोयद बाद अज़ीं
मन दीगरम तू दीगरी।

"मैं तू हो जाता और तू मैं। मैं शरीर हो जाता और तू आत्मा जिससे इसके बाद कोई यह न कह सके कि मैं और तू भिन्न हैं।" नशा के बाद वाले प्रभावों की सी अवस्था दिन भर बनी रही। वह अप्रिय था।

८ जनवरी, १८३०

आज भी वैसी ही हालत बनी रही। १ बजे के लगभग आनन्द नीचे उतरता हुआ महसूस हुआ। अप्रियता केवल ६ बजे सन्ध्या तक कायम रही। साढ़े ६ बजे सन्ध्या समय एक अत्यन्त शक्तिशाली आनन्द उतरा। मैंने यह पद्य गाना शुरू कर दिया :

"सर फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए क़ातिल में है।"

(हमारे हृदय में अब सिर बेच देने की इच्छा है। यह देखना है कत्ल करने वाले के हाथ में कितनी शक्ति है।)

हालत अत्यन्त उत्साहवर्द्धक थी और अर्से तक वैसी ही बनी रही। रात्रि में एक स्वप्न में एक सन्त को देखा। एक रिश्तेदार के यहाँ कुछ खाने के बाद मैं उन सन्त के पास गया। वे चारपाई पर आराम कर रहे थे। उसी दिन जन्माष्टमी थी। मैंने उनसे

निवेदन किया कि वह जन्माष्टमी का दिन है और मैंने हाजमा ठीक करने के लिए उपवास किया था। उन्होंने बड़े प्यार से हमें अपनी चारपाई पर लेट जाने को कहा। उनकी आज्ञानुसार मैं लेट गया। उसके बाद मुझे स्वप्न याद नहीं।

८ जनवरी, १८३०

प्रातःकाल हालत बड़ी शान्त एवं सुखकर बनी रही और यह भाव बना रहा कि किसी का छोड़ा हुआ जूठन खा लेना जायज था। वैसा करने के लिए मेरी बड़ी इच्छा इसलिये थी कि मुझे लगा कि गुरु महाराज जी प्रत्येक व्यक्ति में मौजूद थे और जूठन, प्रसाद के समान होगा।

१० जनवरी, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

११ जनवरी, १८३०

कोई परिवर्तन नहीं। साढ़े ५ से ७ बजे शाम तक मुझे ऐसा लगा कि मैं सारे संसार को लवलीनता के साथ प्राणाहुति दे रहा हूँ। रात्रि समय लवलीनता अधिक गम्भीर थी।

१२ जनवरी, १८३०

दोपहर के सोने में मैंने देखा कि किसी स्थान पर फ़र्श पर कालीन बिछा था और कुछ लोग उस पर बैठे थे। उनमें से एक ने मुझसे मेरी साधना की विधि समझाने को कहा। मैंने वैसा किया और उन्हें अपने हृदय बिन्दु से एक प्रगाढ़तर प्राणाहुति दिया। जग जाने पर भी मुझे लगा कि मैं प्राणाहुति दे रहा हूँ। रात्रि समय लवलीनता गम्भीर थी।

१३ **जनवरी**, १८३०

इनफ्लूएन्जा, ज्वर एवं शरीर की पीड़ा के कारण दशा का अनुभव न हो सका यद्यपि उसमें मुझे एकपन लगा।

१४ **जनवरी**, १८३०

दिन भर ऊपर लिखी हुई दशा कायम रही। सन्ध्यासमय जब मैं बैठा हुआ था तो मुझे ऐसा लगा कि किसी वस्तु का अपना अस्तित्व नहीं। सभी लोग सिनेमा के पर्दे के चित्रों के समान हैं।

१६ **से** २१ **जनवरी**, १८३०

ऐसा लगा कि मुझे अपने माता, पिता तथा भाई इत्यादि के प्रति कोई बन्धन-वाला प्यार नहीं। प्यार में एकरसता का अनुभव हुआ। ऐसा लगा कि सांसारिक सम्बन्धों की कड़ियाँ भी अलग कर दी गई हैं।

२२ **जनवरी**, १८३०

सन्ध्या समय ध्यान मे बैठा। प्रेम की अत्यन्त गम्भीर अवस्था उत्पन्न हुई और हर्षोन्माद में मुझे कबीर की निम्नांकित पंक्ति उच्च स्वर से गाने की इच्छा हुई :

"दर दीवार दर्पण भयो जित देखूँ तित तू"

और आपका पैर पकड़कर फूट-फूट कर रोना चाहा। उसी दशा में प्रार्थना किया कि ईश्वर मेरे भाइयों को अधिक प्यार दे।

२३ **जनवरी**, १८३०

जब मैं दस बजे प्रातः भोजन कर रहा था तो मुझमें सबको श्रद्धांजलि देने का एक भाव उठा; और मैं हृदय से सबको प्रतिष्ठा दे रहा था।

२४ **जनवरी**, १९३०

ऊपर लिखी हालत बनी रही। लगभग ९ बजे रात्रि में मुझे लगा कि मेरा मेरापन एवं अपनत्व बिल्कुल गायब हो गया था और किसी के साथ मेरा कोई लगाव न था। अस्तित्व अनस्तित्व लगने लगा।

२५ **जनवरी**, १९३०

ऊपरलिखी हालत दिन भर बनी रही। सन्ध्यासमय साढ़े ५ बजे जब मैं बाजार में सब्जियाँ खरीद रहा था तो मुझे लगा कि संसार एक नाट्यशाला था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना पार्ट अदा कर रहा था और मैं एक दर्शक था।

२६ **जनवरी**, १९३०

ऊपरलिखी हालत बनी रही। रात्रि में मैंने स्वप्न देखा कि मैं एक सत्सङ्गी के साथ आपके घर में बैठा हूँ और आप भी मौजूद थे। उन्होंने मुझसे प्राणाहुति देने को प्रार्थना की। उस क्षण मैं अपने से परे था। आपने उनसे कहा कि मैं सभी समय अपने से परे रहता हूँ। तत्पश्चात् मैं आपका घर छोड़कर अपने स्वर्गीय चाचा के घर गया। वहाँ पर गुरु जी महाराज पण्डित रामेश्वर प्रसाद के साथ एक चारपाई के पैताने बैठे थे। मैं आदरभाव से खड़ा रहा। गुरु महाराज जी ने मुझसे कहा कि मुझे आदर दिखाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि मैं अपने से परे था। अतः मैं चारपाई के पैताने बैठ गया। महात्मा जी ने मुझे भोजन के लिए चावल खाने को कहा।

२७ **जनवरी**, १९३०

दिन में अधिक लवलीनता थी।

२८ जनवरी, १८३०

१० बजे प्रातःकाल मैंने प्रत्येक व्यक्ति का पैर छूना चाहा। मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम का भाव अधिक गम्भीर था। सन्ध्या समय कचहरी से लौटने पर अपने मन मुताबिक नाश्ता न मिलने पर मैं क्रुद्ध हो उठा, और, रात्रि ८ बजे क्रोध काफी बढ़ गया।

२९ जनवरी, १८३०

पिछले कुछ दिनों में अस्तित्व अनस्तित्व था की जो दशा छाई हुई थी वह अत्यधिक बढ़ गई, और प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व गायब सा हो गया। रात्रि समय सखा-ईश्वर से मिलने की व्यथाएँ अति तीक्ष्ण थीं और उसके कारण एक प्रकार की घबड़ाहट थी। यह दशा उस मनुष्य के समान थी जिसे जल में डुबा दिया गया हो और वह जल से बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा हो।

३० जनवरी, १८३०

प्रातःकाल भी वेदनाएँ तीक्ष्ण थीं। १० बजे प्रातः मुझे लगा कि मुझमें और एक गन्दे कुत्ते में कोई अन्तर न था। सूर्य की रोशनी होते हुए भी सर्वत्र अंधेरा मालूम पड़ता था। रात्रि में स्वप्न देखा कि आपने वहाँ एकत्रित अन्य लोगों के साथ मुझे जोरों की प्राणाहुति दिया और प्यार के उपहार स्वरूप मैंने आपको सोने के बटन दिए। आपने कहा कि बटनों के साथ एक पोशाक भी होना चाहिए था। उसके बाद स्वप्न याद नहीं। किन्तु मुझे इतना याद है कि स्वप्न में दशा कुछ विचित्र सी थी जिसका आनन्द केवल हृदय को ही ज्ञात है। जाग जाने पर सिर में कुछ चक्कर सा अनुभव हुआ।

३१ जनवरी, १८३०

ध्यान के बाद प्रातःकाल मुझे ऐसा लगा कि अतीत के सन्तों,

पैगम्बर मुहम्मद, तथा मेरा, सभी का अस्तित्व एक तथा समान है। दिन भर ऐसा ही महसूस होता रहा। सन्ध्या समय आपके निवास स्थान पर यह भावना थी कि "मैं ही सब कुछ हूँ।"

फरवरी, सन् १९३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र।

दोनों विश्व के श्रद्धेय पथप्रदर्शक !
आप दीर्घजीवी हों !

श्रद्धा के साथ विनम्र निवेदन है कि फरवरी, १९३० की अपनी दैनन्दिनी प्रस्तुत करने के पूर्व मैं अपनी हालत आपको लिख रहा हूँ। इस माह जिन अवस्थाओं के सम्बन्ध में मैं आपको समय-समय पर लिखता रहा हूँ और जो अब स्थिर से लग रहे हैं उन सबके बावजूद कुछ नयी चीजें भी हो गई हैं। "मैं ब्रह्म हूँ" या "मैं सब कुछ हूँ" की अवस्था बनी रही और कभी-कभी मुझे बेहोशी हो जाती थी। मैं अपने आपको राम, कृष्ण तथा अतीत के अन्य सन्त समझता था जिनके चरण रज की पवित्रता एवं आनन्द की तुलना किसी सासांरिक वस्तु से नहीं की जा सकती और जो मानवबुद्धि एवं ज्ञान की समझ के बाहर है। जब कभी किसी सन्त की चर्चा की जाती है तो मुझे लगता है कि वह मेरी ही चर्चा है और इस विचार में मुझे तनिक भी शंका नहीं होती। ऐसी भी अनुभूति होती थी कि वह सर्वोच्च उत्तमता नहीं थी और मैंने अपने विचार एवं सुरत को इस विचार के परे ऊँचे उड़ते हुए पाया। व्यथाएँ पूर्ववत् थीं। उच्च सम्बन्धों

का ख्याल बहुधा गम्भीर था। वह इस ढंग से था कि मुझे लगता था कि अतीत के सन्तों के साथ बहुत नजदीकी सम्बन्ध था, ठीक उसी प्रकार का जैसे दो विभिन्न प्यालों का जल एक प्याले में उड़ेलने पर एक हो जाता है। हर क्षण मुझ पर सन्तों की दुआएँ बरसती हुई लगती हैं। जब मैं अपने ईश्वर का चिन्तन करता हूँ तो वे मुझ नाचीज के विचार में खोये से लगते हैं। शेष अपरिवर्तित है।

१ फरवरी, १८३०

१० बजे प्रातः "मैं ब्रह्म हूँ" का भाव बहुत गम्भीर था। सन्ध्या समय जब मैं आपके साथ ध्यान में गया तो मुझे ऐसा लगा कि मैं आपके अस्तित्व के साथ एकरस था। एक दैवी धारा आपमें से अवश्य आ रही थी, पर यह आदान प्रदान एक कर्त्तव्य के समान लगता था।

२ फरवरी, १८३०

कोई परिवर्तन नहीं।

३ फरवरी, १८३०

११ बजे जब मैं भोजन करके उठा तो मुझे लगा कि मैं राम एवं कृष्ण था। लगभग १२ बजे दोपहर को "मैं ईश्वर हूँ" की अनुभूति गम्भीर थी।

४ फरवरी, १८३०

दिन में दशा अपरिवर्तित। सन्ध्या समय साढ़े ६ बजे से ८ बजे तक विचित्र गम्भीरता की दशा छाई रही। रात्रि में भी दशा गम्भीर एवं मनोहर बनी रही। हृदय भी काफी धड़का। इस दशा

की व्याख्या करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। इस रात्रि को शबेकद्र कहना अनुचित न होगा।

शबे कद्र का शाब्दिक अनुवाद सम्मानित-रात्रि अथवा एक सम्मानित करने योग्य रात्रि हो सकता है। मुसलमानों का विश्वास है कि रमजान में शबे कद्र आती है और यदि कोई व्यक्ति उस रात्रि में ईश्वर की याद करता है तो उसे एक हजार रात ईश्वर की याद करने के बराबर फल मिलता है। यह शब्द उर्दू तथा फारसी साहित्य में आध्यात्मिकता के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है।

५ फरवरी, १९३०

दशा अपरिवर्तित। रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं एक मसेहरा पर लेटा हुआ था और अस्वस्थ था। वहाँ एक प्रिय सम्बन्धी मौजूद थे। हैजा का कुछ सन्देह था, पर दर्द बिल्कुल न था; मैं महात्माजी की याद में रो रहा था। इसके अतिरिक्त मुझे याद नहीं।

६ फरवरी, १९३०

१० बजे प्रातःकाल तक दशा अत्यन्त मनोहर बनी रही। सन्ध्या समय जब मैं आपके निवासस्थान में बैठा था तो एक क्षण के लिए समाधिस्थ हो गया। इसी बीच मेरे अन्दर कुछ शब्द स्वयमेव गूंजने लगे। शब्द थे "जो कुछ मुझे मिला है मैंने आपको दे दिया। जो शेष रह जाता है वह भी आपका है।"

७ फरवरी, १९३०

दिन में दशा अपरिवर्तित। प्रातः ४ बजे के बाद स्वप्न देखा कि फकीरों का एक दल एकत्रित हुआ था। उनमें से एक, जिनका नाम स्वामी आत्मानन्द था, बैठे हुए थे। उनके समीप एक दूसरे

सज्जन भी थे। मुझे लग रहा था कि स्वामी आत्मानन्द मुझे प्राणाहुति दे रहे थे। पर मेरा दृढ़ विश्वास था कि वह प्राणाहुति मेरे गुरु महाराज की थी और मैं गुरु जी की याद में रो रहा था। इसी बीच मैंने भी गुरु जी को देखा। इससे अधिक मुझे कुछ भी याद नहीं। मैंने स्वामी आत्मानन्द को कभी नहीं देखा है। पर पता लगाने पर मुझे मालूम हुआ कि उनकी मुखाकृति एवं शरीर रचना वैसी ही है जैसी मैंने स्वप्न में देखा था।

८ **फरवरी**, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

९ **फरवरी**, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि महात्मा जी महाराज मेरे साथ बहुत दिनों तक थे और उस बीच कई बार मुझे प्राणाहुति दिया।

११ **फरवरी**, १८३०

दिन भर इस प्रकार के विचार दिमाग में आये कि मनुष्य को ईश्वर की राह की ओर अग्रसर करने के लिए अथवा उसे सांसारिक कष्टों से मुक्त करने के लिए सैकड़ों ध्यान करना उचित था। रात्रि में ७ बजे सही और गलत की समस्या में मेरा मस्तिष्क उलझा रहा। जो बात सही लगती, ग्रहण की जा रही थी, और गलत, वहिष्कृत। एक विचार जो मस्तिष्क में आया वह यह था कि चोरी करना या डाका डालना गलत है। **सत्सङ्ग** लाभदायक एवं आवश्यक है। परन्तु मानव की सेवा करने में यदि यह कभी छूट जाय तो कोई हानि नहीं।

१५ से १८ **फरवरी**, १८३०

दशा में काफ़ी गम्भीरता थी। पूज्य पिता जी की बीमारी के

कारण मुझे जगते रहना और इधर उधर दौड़ना पड़ता था। मस्तिष्क में समभाव की दशा बनी रही।

२६ **फरवरी**, १८३०

पूरे दिन मेरे अन्दर ऊँचे सम्बन्धों की भावना थी और जीवित एवं मृत सन्तों के साथ निकट सम्बन्ध महसूस होता रहा।

२७ **फरवरी**, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

२८ **फरवरी**, १८३०

लखनऊ गया और लौटते समय ३ बजे शाम को "सभी ब्रह्म है" के भाव की अनुभूति हुई थी, पर हल्की। आगे, सविनय निवेदन है कि जब मैं अर्द्ध-समधि की स्थिति में होता हूँ अथवा मुझ पर तन्द्रा (आलस्य) छा जाती है तो सैकड़ों ध्वनि रहित (खामोश) चीजें मुझे मालूम पड़ती हैं। यदि ध्यान दिया जाय तो उनमें से बहुत सी चीजें समझी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ :— "दीवार गिर गई है, उसकी मरम्मत कराओ। मैं दाम दूँगा। अथवा, यदि मैं इतनी मदिरा न पी जाऊँ तो मेरा नाम नन्हू नहीं, इत्यादि।" बहुत विचार करने पर भी मैं इसकी महत्ता समझने में असफल हुआ।

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक!

आप दीर्घ जीवी हों!

प्रणामोपरांत मुझे यह निवेदन करना है कि मार्च १८३० की दैनन्दिनी अंकित करने के पश्चात् मैं आपके अवलोकनार्थ घटनाओं का एक सारांश देता हूँ!

फरवरी १८३० में "मैं ब्रह्म हूँ" की भावना छाई रही। अब मार्च १८३० में "सब ब्रह्म है" का मैं अनुभव करता रहा। "बिना सबके और सबके साथ" की दशा का अनुभव हो रहा है। यह कदाचित् निम्नांकित से काफी स्पष्ट हो जाएगा।

"मैं उस व्यक्ति के साहस का दास हूँ जो नीले आकाश के नीचे किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और फिर भी उससे स्वतन्त्र रहता है।"

कुछ दिनों तक एक यह भाव था कि आप अपना प्रभाव सीधे हृदय पर डाल रहे थे, उसे सुधारने के लिए। अब मैं हृदय की दशा पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी पाता हूँ यद्यपि अब भी कभी-कभी विषय-सुख के हल्के आक्रमण होते ही रहते हैं। पर यह आक्रमण एक क्षण या आधे क्षण से अधिक नहीं टिकते। मस्तिष्क समभाव की ओर कुछ झुका सा रहता है। हर क्षण किसी न किसी रूप में बेचैनी बनी रहती है। कभी-कभी इसके अत्यधिक गम्भीर हो जाने पर बेचैनी हमें दबोच लेती है और मित्र से एक होने की तीव्र इच्छा होती है। साथ ही साथ पूर्णता (अन्त) तक पहुँचने की उत्कंठा बढ़ जाती है। प्रेमभाव एवं सूक्ष्म सम्बन्ध केवल इसी संसार तक सीमित नहीं रहता। प्रत्युत, वह तो आध्यात्मिक विश्व तथा अतीत के असंख्य संतों के साथ भी बना हुआ लगता है। एक अत्यन्त नजदीकी और सीधा संबन्ध गुजरे हुए सन्तों के साथ महसूस होता है और जब कभी मैं ध्यान करता हूँ ईश्वरीय कृपा के झरने ऊपर से गिरते हुए लगते हैं।

अन्दर और बाहर एक सी दशा बनी रहती है। सभी जगह समभाव की दशा छाई सी रहती है, और ऐसा लगता है कि वास्तविकता प्रकाशित की जा रही है। ठीक उसी प्रकार जैसे गुलाब और कस्तूरी अपनी मीठी सुगन्ध स्वयमेव बिखेर कर अपने अस्तित्व की यथार्थता सिद्ध करते हैं। उनको इसकी चिन्ता नहीं कि मीठी सुगन्धों के कारण उन सुगंध-धारकों की ओर किसी का मस्तिष्क भी जाता है या नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा मेरे अन्दर आ गई है जिसमें विचारों का क्षेत्र विस्तारित हो गया है, और उसका विस्तार एक विस्तृत सीमा तक महसूस किया जाता है। किन्तु मैंने उसे अपनी संकुचित दृष्टि के कारण केवल शाहजहाँपुर तक ही सीमित कर रखा है। उस विस्तार के अन्तर्गत मुझे मानव का कल्याण, संकटों से उनकी रक्षा एवं उनकी खुशहाली अपना कर्त्तव्य दिखायी पड़ता है। और, मेरी प्राणाहुति का प्रभाव स्वयमेव बिना जताए ही चलता रहता है। जब मैं शान्त होता हूँ तो प्राणाहुति मस्तिष्क से निकलकर उस विचार के विस्तार के अन्तर्गत फैलता है। वह प्राणाहुति अधिक शान्तिदायक है। और उस स्थान के विचार सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति मुझ गरीब की प्राणाहुति द्वारा होती सी लगती है।

१ मार्च, १९३०

"सब ब्रह्म है" का भाव अपरिवर्तित रूप से बना रहा। रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त ने मुझे प्राणाहुति दिया। सिर में जबड़े के पास मैंने एक प्रकार का स्फुरण महसूस किया।

तब मैंने एक सत्सङ्गी भाई से एक गाना गाने को कहा पर उनके गाना आरम्भ करने के पहले ही मैं जाग गया।

२ और ३ मार्च, १८३०

दशा अपरिवर्तित बनी रही।

४ मार्च, १८३०

रात्रि में एक स्वप्न देखा जिसका कुछ ही अंश मुझे स्मरण है, यथा : मैं किसी समय मोटरगाड़ी और कभी किसी अन्य प्रकार की सवारी में कहीं चला जा रहा हूँ और किसी स्थान पर एक छत पर पहुँच गया। छत के नीचे उतरने के लिए एक मार्ग था पर सीढ़ी टूटी हुई तथा ढीली-ढाली थी। मुझे ऐसा लगा कि एक मनुष्य के बोझ से वह नीचे गिर जाएगी। अँधेरा भी था। आस-पास की सभी छतें अँधेरे में थीं। मेरी गोद में मेरा छोटा बेटा था। सीढ़ी से नीचे उतरने का साहस न हुआ। गुरु जी महाराज का ख्याल तो मुझमें था ही पर उस समय किसी बड़े मुसलमान सन्त का भी ख्याल आया। उस ख्याल के आते ही एकाएक एक गैस-सदृश प्रकाश हुआ और मैं शीघ्र ही साहसपूर्वक सीढ़ियों से नीचे उतर आया। इसके बाद मैं जाग गया।

५ से ८ मार्च, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

१० मार्च, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं अपनी बड़ी चाची को लखनऊ पहुँचाने जा रहा था। रेलगाड़ी से उतरने पर बाहर जाने का एक मार्ग देखा। उसमें ऊपर जाने के लिए एक सीढ़ी लगी हुई थी। मैं सीढ़ी पर चढ़ गया किन्तु दरवाजा इतना तंग था कि उसमें से

निकलना असम्भव था। मैंने अपने सामान के साथ उस तंग दरवाजे से ऊपर जाने का प्रयत्न किया। इसी बीच गाड ने दरवाजे को खोल दिया। उसमें से होकर मैं आसानी से ऊपर पहुँच गया। वहाँ से मैं कानपुर गया। रोटी खाते समय मैं अपने एक मित्र से बातें करता रहा। इसी बीच मैंने देखा कि कोई पूजनीया सन्त रो रहीं थीं। मैंने उन्हें सान्त्वना दिया। उन्होंने मुझे अपना पुत्र कह कर आलिगन किया। एक अन्य पूजनीय सन्त भी वहाँ थे। उनसे लाभान्वित हुआ। उसी रात मेरी पत्नी ने स्वप्न देखा कि मैं कानपुर से वापस लौट आया था और एक गाय के आक्रमण करने से मेरी मृत्यु हो गई थी।

११ मार्च, १९३०

कचहरी में पहले की ही तरह कई बार फैज (कृपा) उतरता हुआ मालूम पड़ा। उस फैज के परिणामस्वरूप मैं सो जाना चाहता था।

१२ मार्च, १९३०

रात्रि में मुझे लगा कि त्रिकुटि पर ध्वनि (अर्थात् शब्द) इस ढंग से गूँज रही थी जैसे खेत में बोए हुए चने में अंकुर निकलते समय एक हल्की सी ध्वनि निकलती है।

१३ मार्च, १९३०

३ बजे प्रातः तक वासना का बाहुल्य था। ४ बजे (प्रातः) के बाद हृदय की हालत में बड़ी राहत थी। ऐसी राहत जो एक चालक (Driver) गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर अपने इंजन की अग्नि एवं भाप के बुझा दिए जाने के पश्चात् महसूस करता है।

मार्च, १९ १४३०

स्वप्न देखा कि मैं अलीगढ़ में एक मकान में हूँ। वहाँ एक बारात के आने की इन्तजारी थी। उसे कानपुर अथवा फतेहगढ से आना था। बारात में रिश्तेदारों के साथ मालिक तथा पूज्य सन्त भी आने वाले थे। मैं उस मकान में बना रहा और मालिक की याद में रोते तीन दिन व्यतीत हो गए। बारात आई और पूज्य संत एक ऊँचे चबूतरे पर बैठे। जब मैंने उस चबूतरे पर चढ़ना आरम्भ किया तो तीन बन्दर मेरी ओर झपट पड़े। मैंने उनमें से एक को एक पेड़ के नीचे और दूसरे को एक दूसरे पेड़ के नीचे जाने की आज्ञा दी। उन्होंने मेरी आज्ञा मान ली। तीसरा बन्दर सहसा मुझे पूज्य सन्त जी के पास ले गया। वे बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने कहा कि मैंने अच्छा सेवा कार्य किया है। तब मैं कमरे के अन्दर गया। प्यार के कारण रोना और बेचैनी बनी रही। सभी लोगों को ठण्डा शर्बत दिया गया और मुझे थोड़ी ब्रान्डी दी गई। पूज्य सन्त जी ने मुझे इसे पीने की इजाजत दी। उसके बाद मैं जाग पड़ा। देखा कि काफी सबेरा हो गया था।

१५ मार्च, १९३०

मन की दशा बड़ी मनोहर थी और मेरे काबू के अन्दर मालूम पड़ती थी। वासना गायब थी।

१७ मार्च, १९३०

९ बजे प्रातः त्रिकुटि के दाहिनी ओर थोड़ा दर्द महसूस हुआ।

१९ से २१ मार्च, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

२२ मार्च, १९३०

प्रातःकाल हालत ऐसी थी कि मैं सारे शाहजहाँपुर को हल्की

प्राणाहुति दे रहा था। यह दशा १० बजे प्रातः तक गम्भीर बनी रही।

२३ से २५ मार्च, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

२६ मार्च, १८३०

रात्रि में हजरत मुहम्मद के विषय में विचार अपने आप प्रबल था और जब मैं प्रातः उठा तो वही विचार बना रहा।

२७ मार्च, १८३०

विचार में अधिक फैलाव महसूस किया। इसके साथ ही अनुभव किया कि मेरी प्राणाहुति का क्षेत्र, जिसे मैंने ही अपनी अदूरदर्शिता के कारण भूल से केवल शाहजहाँपुर तक ही सीमित समझा था, वास्तव में बहुत दूर तक फैला हुआ था। दूर दृष्टि डालने पर आँखें चौंधिया जाती हैं और सीमा दृष्टिगोचर नहीं होती। मुझे ऐसा लगा कि शाहजहाँपुर के सभी निवासी मुझसे ईश्वरीय कृपा (फैज) प्राप्त कर रहे हैं और उनका कल्याण तथा सम्पन्नता मेरी जिम्मेवारी मालूम पड़ रही थी।

२८ मार्च, १८३०

ऊपरलिखित हालत अपरिवर्तित रही।

२९ मार्च, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं एक अन्य व्यक्ति के साथ एक चबूतरे पर था। इसी बीच एक चीता एक माँद से निकला। तदुपरान्त चीते के दो बच्चे निकले। चीते के कान से धुआँ निकल

रहा था। चीते को देखते ही मैंने घर के अन्दर भागना शुरू किया तथा दरवाजा बन्द करने का प्रयत्न किया। परन्तु, वह चीता अन्दर आ गया और मुझ पर आक्रमण करने का प्रयत्न करने लगा। गुरु जी महाराज के रूप पर ध्यान करते हुए मैं कुछ समय तक चीते से उलझा रहा। पर, एक मनुष्य चीते का मुकाबला कहाँ तक कर सकता है ? अन्त में, उसके पंजे मेरी पकड़ से छूट गये। उसने मुझे खा डालने का प्रयत्न किया। मैं गुरु जी महाराज का ध्यान करता रहा किन्तु मुझमें प्रेम की कमी के कारण कोई सहायता मिलती हुई नजर नहीं आई। असहाय होकर मैंने कुछ क्षण की मुहलत के लिए प्रार्थना किया। इस मुहलत माँगने का उद्देश्य था गुरु जी महाराज पर अन्त समय कुछ क्षणों के लिए ध्यान लगाना। पर उसने मुझे मुहलत देने से इन्कार कर दिया। तब मैंने चीते से कहा कि यदि वह मुझे खा डालेगा तो मैं उसे शाप दे दूँगा और उसकी सारी नस्ल का अन्त हो जायगा। इस भय के कारण चीते ने मुझे छोड़ दिया।

पूर्ववर्ती दैनन्दिनियों के सम्बन्ध में शाहजहाँपुर के इस अकिंचन रामचन्द्र के गुरु फतेहगढ़ निवासी, महात्मा रामचन्द्रजी, का दिनांक १२ अप्रेल, १९३१ का उत्तर :

मेरे प्यारे भाई,

आपको ईश्वर दीर्घजीवी करे !

आपकी हालतों से सम्बन्धित आपके ब्योरे से पूर्ण पत्र प्राप्त हुए। वे मेरे हृदय के लिए आनन्द के स्रोत थे। ईश्वरीय प्रकाश एवं ज्योति का उतरना ईश्वर आशीर्वाद है। मैं एक-एक करके आपकी सभी हालतों,

भावों, एवं अनुभवों पर प्रकाश डालना चाहता हूँ। यह सब तभी सम्भव होगा जब मेरे पास समय और फुर्सत हो। मैं सफर करता रहा हूँ और फिर भी यात्रा का अन्त न हुआ। कदाचित कल या परसों मैं एटा जाऊँगा और वहाँ से वृन्दावन। २० अप्रैल की सन्ध्या तक वापसी होगी बशर्ते कि दर्द मुझे सफर करने दे। गत दो दिनों से वह मुझे परेशान कर रहा है। पर हर समय यह महसूस नहीं होता। यह निश्चय किया गया है कि वार्षिकोत्सव अथवा भण्डारा मुहर्रम के महीने में रखा जाय। इसकी सूचना बाद में भेजी जाएगी। इस समय अधिक फैज (कृपा) एवं ज्योति के उतरने की आशा है। 'सब ब्रह्म है" की यह हालत मध्यवर्ती है। यह स्थायी नहीं है। किसी को इस हालत पर ठहरना न चाहिए। ईश्वर ने मदद की तो आपको इस हालत के पार कदम रखने की खुशखबरी मिलेगी। एवमस्तु! वहाँ के अन्य लोगों की हालत का ज्ञान मुझे आपके प्रिसेप्टर के पत्रों द्वारा होता है। एक व्यक्ति विशेष पर जो अवस्थाएँ उतर रही हैं मैं उसके लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञ हूँ। ईश्वर उन्हें इन अवस्थाओं की स्थिरता प्रदान करे! अन्य लोग या तो अपनी अवस्थाओं का वर्णन नहीं करते या अपने विचारों को प्रकट करने का सामर्थ्य नहीं रखते। मगर मेरा विचार है कि उन्हें उनका एहसास नहीं होता है। अधिकतर लोग पूजा केवल यन्त्रवत् (कर्मकाण्डानुसार) करते रहते हैं। उनमें सच्ची चाह, व्यथा तथा बेचैनी नहीं होती। अन्यथा वे अवश्य ही अवस्थाओं का अनुभव करते और उनमें प्रत्येक दिन एक नवजीवन संचारित होता। फिर भी,

इतना भी काफी है। कुछ न करने से हजार गुना बेहतर है। आपके प्रिसेप्टर कदाचित् शीघ्र घबड़ा जाते हैं। उन्हें सान्त्वना देनी चाहिए। वे कोमल हृदय हैं। मुसीबतों तथा चिन्ताओं की बाहुल्यता के कारण घबड़ा जाते हैं। सबको आदर सत्कार। बच्चों को प्यार!

आपका शुभचिन्तक
रामचन्द्र
(फतेहगढ़ से)

अप्रैल १८३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक!

आप चिरजीवी होवें!

प्रणामोपरान्त मुझे निवेदन करना है कि मैं अप्रैल १८३० की दैनन्दिनी का सारांश अंकित कर रहा हूँ। बाद में तिथिवार घटनाओं का मैं उल्लेख करूँगा। पहले "मैं ब्रह्म हूँ" की हालत बनी रही। फिर "सब ब्रह्म है" का अनुभव मैं करता रहा। अब इन दोनों में से कोई भी नहीं। मस्तिष्क में ईश्वरीय विचार किसी अनन्त सागर में गोता लगा रहा है अथवा किसी असीमित शून्य फैलाव में; और, अब भी, अन्ततोगत्वा, मोतियों की सीप एकत्रित करने में लगा हुआ है। विचार लय अवस्था की ओर झुका हुआ मालूम पड़ता है। दिन प्रतिदिन बुद्धि तीव्र होती जा रही है। हालत

शान्तिमय रहती है और इस शान्ति में कुछ ठोसपन मालूम देता है। परन्तु इस शान्ति के बावजूद भी बेचैनी एवं अशान्तता है। हे ईश्वर! इस अशान्तता का अन्त कब होगा? एक बात उल्लेखनीय यह है कि पहले मैं अपने को फकीर नहीं समझता था और यदि समझता भी था तो उसमें बिल्कुल बनावटीपन और पाखण्ड था। अब इस महीने में एक ऐसी हालत आप से आप हो गई है जो इस गरीब को एक फकीर होने का आभास कराती है।

दशाएं, जो गुजर चुकी हैं, मेरे नियन्त्रण में मालूम पड़ती हैं। जब कभी भी मैं चाहता हूँ, गुजरी हुई हालत पुनः वापस आ जाती है। यद्यपि उनका प्राकट्य मेरी शक्ति में नहीं और न तो मैं उसकी ओर मुखातिब हूँ। कभी-कभी विचार ज्यों ही किसी वस्तु में प्रविष्ट करता है तो वह वस्तु प्रकाश में आ जाती है। और कभी तो मैं अपने पैर का पिछला भाग भी देखने में असफल हो जाता हूँ। संसार के कार्य-कलापों में कुछ भी दिलचस्पी नहीं है। सब चीजों में लगे रहने पर भी मैं अपने को उनसे मुक्त पाता हूँ। जब मैं मनुष्यों को देखता हूँ तो मुझे उनके विचारों की दिशा अधो-मुखी मालूम पड़ती है अर्थात् ऊर्ध्वमुखी, ईश्वर की ओर की अपेक्षा, सांसारिक कार्यों की ओर। प्यार के झोंके में मैं उनके विचारों को ऊपर की ओर मोड़ देने की इच्छा रखता हूँ और वैसा करने के लिए मुझमें काफी साहस भी है पर शक्ति की कमी है। अहं मुझसे आमने-सामने बातें करता है और विभिन्न प्रकार की व्यर्थ की चीजें दोहराता रहता है। यह बात अधिकतर

अर्द्ध-समाधि, ध्यान, या निद्रालु-अवस्था में अधिक होता है।

१ अप्रैल, १९३०

हालत में कोई विशेष बात नहीं महसूस होती थी। वह पूर्ववत् बनी रही।

२ अप्रैल, १९३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं आपके साथ एक घर के अन्दर था और एक महान् मुस्लिम सन्त आँगन में बैठे थे। मैं उन सन्त की बाईं ओर बैठ गया और देखा कि एक हाथ उनके साथ हाथ मिला रहा है। मैंने गुरु जी महाराज की याद में अत्यधिक रोना आरम्भ कर दिया। दूसरी तरफ एक बरामदे में गुरु जी महाराज दिखाई पड़ रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि दीक्षा संस्कार के समय किसी को रोना शोभा नहीं देता। सन्त ने दैवी मालिक से कुछ कहा जिसका अर्थ था कि अपने प्रेम के कारण मुझमें कोई त्रुटि नहीं थी। तब मेरा हाथ अपनी हथेली पर रखकर उन्होंने मुझे दीक्षित किया और दो मन्त्र पढ़े। उनमें कदाचित् प्रतिज्ञा एवं समर्पण सन्निहित थे। वे मन्त्र फारसी में थे। उस समय तो मैं उनका अर्थ समझ गया था। पर बाद में भूल गया। इसके बाद मैं अपने घर लौट आया। मैंने महराजिन से (खाना बनाने वाली) पाँच बड़ी-बड़ी रोटियाँ बनाने के लिए कहा किन्तु उसने केवल तीन बनाई और कहा कि वे पाँच थीं। यह कहकर वह तुरन्त चली गई। जब वह लौटी तो मैं उस पर अत्यन्त क्रुद्ध था। जागने पर मुझे ऐसा लगा कि जो हाथ उस महान दैवी सन्त से हाथ मिला रहा था, पैगम्बर मुहम्मद का था।

३ से ५ अप्रैल, १९३०

दिन में दशा अपरिवर्तित। मुझमें निश्चय ही यह प्रेमभावना

थी कि मेरा प्रेम केवल इस संसार तक ही सीमित नहीं था वरन् आध्यात्मिक संसार तथा अतीत के सन्तों तक से भी वह सम्बन्धित था।

६ अप्रैल, १८३०

रात्रि में मैंने स्वप्न में अपने मालिक को देखा। वे मेरे मातृक के घर में एक चारपाई पर बैठे थे और उन्होंने मुझे आज्ञा दिया कि मैं उनकी ओर मुख करके बैठूँ। पंडित रामेश्वर प्रसाद प्रिसेप्टर, और मेरे मामा वहाँ मौजूद थे। मेरा स्वर्गीय चचेरा भाई भी था। इसके आगे मुझे कुछ याद नहीं।

७ अप्रैल, १८३०

दशा में अधिक समभाव मालूम हुआ।

८ से १२ अप्रैल, १८३०

दशा पूर्ववत्। समभाव बना रहा।

१३ अप्रैल, १८३०

लगभग १० बजे रात्रि एक विचार आया कि मेरी दशा एक सन्त की दशा के समान होना आरम्भ हो गई थी और अधिक सतर्कता की आवश्यकता थी।

१४ अप्रैल, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

१५ अप्रैल, १८३०

रात्रि में सोते समय दशा बड़ी शान्तिमय थी। ऐसा लगता था कि मुझे एक सन्त "आत्मा चक्र" से प्राणाहुति दे रहे थे।

१६ से २१ अप्रैल, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

२२ अप्रैल, १९३०

वासनामय विचार सन्ध्या समय मँडराते रहे परन्तु जैसे ही वे आते वैसे ही नाट्यशाला की मूर्तियों की भाँति गायब हो जाते और एक प्रकार का चक्कर सा बन जाता था।

२३ से २६ अप्रैल, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

२७ अप्रैल, १९३०

ऐसा लगता था कि मेरी दशा में कोई अन्य परिवर्तन होने वाला है।

२८ अप्रैल, १९३०

सन्ध्या समय मेरी छाती में दर्द था। ध्यान के बीच ऐसा लगा कि महात्मा जी दर्द के अधिक होने पर मुझे मालिश करने के लिए तैयार थे।

२९ अप्रैल, १९३०

७ बजे सन्ध्या से १० बजे रात तक विचारों की बौछार अति गम्भीर। पर ज्योंही वे आये वैसे ही चले गये।

३० अप्रैल, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

मई १९३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र :—

दोनों संसार के श्रद्धेय मालिक !

आप दीर्घजीवी हों !

सर्वप्रथम मैं अपनी दैनन्दिनी का सारांश दे रहा हूँ और तिथिवार घटनाएँ बाद में अंकित करूँगा। मस्तिष्क, जिसमें विचार स्थित रहता है, की दशा शब्दों से परे एवं अकथनीय है। इतना कहा जा सकता है, कि दिन प्रतिदिन सूक्ष्मता बढ़ोत्तरी पर है। हृदय पर ऊपर से उतरने वाली धारा सूक्ष्मता का पता ठीक वैसे ही देती है जैसे एक चावल छूने से पता लग जाता है कि बर्तन के सब चावल पके हैं अथवा नहीं। मस्तिष्क में राजनैतिक आन्दोलन का जो चित्र अंकित हुआ है वह एक रणस्थल का चित्र है। यह मैं आपको जबानी बता चुका हूँ। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुझे ऐसा लगता है कि मैंने किसी स्वर्गीय (आकाश) मण्डल में जन्म लिया है और वहीं मेरा निवास स्थान है तथा इस संसार में मेरा रहना उसी प्रकार का है जैसा एक व्यक्ति का शौचालय में शौच करने के लिए जाना। ऊपर लिखी हुई हालत का उल्लेख न तो लेखनी द्वारा हो सकता है और न जिह्वा द्वारा। निम्नांकित से केवल एक अनुमान मात्र लगाया जा सकता है : "पौ फटने एवं तड़के सुबह के मध्य स्वच्छ आकाश में मानो एक तारा, अपनी धुँधली चमक के साथ, विद्यमान हो। पर वह तारा आँख से ओझल हो जाता है, और ज्योति का केवल एक अस्पष्ट

भाव मात्र ही शेष रह जाता है; अथवा उसे किसी ऊजड़ स्थान की मनोहरता कहा जा सकता है।"

१ मई, १८३०

सन्ध्या समय मुझे ऐसा लगा कि वे विचार जो आकाश में ऊँचे मँडराते रहे हैं तथा वे जो मुझसे जुड़े हुये हैं, दोनों, पतिङ्गों की भाँति गिर रहे हैं।

२ से ६ मई, १८३०

साहस के दौरे आये। अन्य कोई विशेष बात महसूस न हुई।

८ से १० मई, १८३०

ऊपर लिखित राजनैतिक मामला बना हुआ है। दूसरी वस्तु जो आई वह यह भावना थी कि मेरा जन्म कहीं नैसर्गिक संसार में हुआ था और मैं उसी स्थान का एक निवासी था।

११ मई, १८३०

प्रातःकालीन सत्सङ्ग में एक समस्या अपने आप मस्तिष्क में उठ खड़ी हुई। वाह्य रूप देखने वाले किसी मनुष्य को गृहस्थ-फकीर संसार के कार्यों में प्रत्यक्षतः बँधे हुये क्यों दिखाई पड़ते हैं? चूँकि मुझे इसमें अधिक रुचि नहीं अतः मैं इसके कारणों का उल्लेख नहीं करता।

१३ मई, १८३०

जीवन और मृत्यु एक समान मालूम होते थे। शरीर से इतना अधिक अलगाव था कि यदि कोई मुझे मार भी डालता तो उसकी चिन्ता हमें न होती।

१४ मई, १८३०

ऊपर लिखित दशा बनी रही।

१५ से २१ मई, १८३०

जीवन और मृत्यु एक से लगे।

२३ से २५ मई, १८३०

हालत ऐसी थी कि कोई मुझ पर कृपा प्रदान कर रहा था।

२८ और ३० मई, १८३०

मुझे ऐसा लगा कि सरकार को सुधारने के लिये कृष्णचक्र गतिशील था, पर गति अधिक धीमी थी। कुछ भी हो, उसने घूमना आरम्भ कर दिया है।

जून १८३० की दैनन्दिनी की प्रति के साथ मालिक को पत्र

शाहजहाँपुर

६ जुलाई, १८३०

दोनों संसार के मालिक!

आप दीर्घजीवी हों!

प्रणामोपरान्त मुझे निवेदन करना है कि जून माह में मेरी दशा ने एक गहरा मोड़ लिया। इसके पूर्व वाली दशा कई गुना अधिक गम्भीर थी। वर्तमान अवस्था की तुलना एक बबूल वृक्ष से की जा सकती है जो न सावन के महीने में हरा रहता है और न भादों के महीने में सूखा। वहाँ न तो बसन्त का कोई प्रभाव

रहता है और न शरद्काल का कोई भय। पहले तो विचार सदा मस्तिष्क की ओर मुड़ा रहता था और मैं उसे इच्छानुसार गम्भीर बना सकता था। उस बिन्दु की दशा का एवं उस बिन्दु का भी, जहाँ विचार स्थिर था, मैं अनुभव किया करता था। अब इनमें से कोई भी अवस्था नहीं है। न तो ईश्वर की धारणा है और न उसके याद की। न तो पूर्ण लवलीनता मालूम पड़ती है और न आत्मज्ञानता। फिर भी यह विश्वास बना रहता है कि मैं उसकी (ईश्वर) ओर मुड़ रहा हूँ लेकिन मुड़ जाना मालूम नहीं होता। किसी सन्त ने कहा है "न तो विचार वहाँ पहुँचता है और न बुद्धि की वहाँ पहुँच है।" यह सही मालूम पड़ता है। संयोगवश, एक विस्तृत ऊजड़ क्षेत्र क्षणभर के लिए मेरी दृष्टि के सामने आता है और मुझे सूचित करता है कि वही मेरे समागम का स्थान अथवा मेरा कार्य स्थल है।

दशाएँ जैसे शक्ति एवं अधिकारपन का भाव; सभी को गुरु जी महाराज के रूप में देखना; मेरा ईश्वर के प्रति प्रेम; संसार को प्रकृति का क्रीड़ा स्थल समझना; सभी का संसार की ओर झुकाव और मूल तत्व की अज्ञानता यद्यपि कि उसका प्राकट्य प्रत्येक मनुष्य में है; ऊपर की स्थिति को ईश्वरेच्छा मानना और मनुष्य को इस अर्थ में असहाय एवं अबोध समझना, इत्यादि; सभी जो पहले अनुभव की गई थीं, इस महीने भी मालूम हुईं। पहले की अनुभव की हुई दशाओं एवं जून मास की दशाओं के बीच अंतर केवल यह था कि भूत की अपेक्षा वर्तमान अधिक

सूक्ष्म था और उनमें ठहराव उतना दीर्घकालीन न था। कहने का तात्पर्य यह है कि पुनरावृत्ति का क्रम आरम्भ हो गया था पर अधिक सूक्ष्मता के साथ।

तीन वर्ष पूर्व मैं ईश्वर के भय वाले क्षेत्र से गुजरा था जिसकी सूचना मैं आपको दे चुका हूँ। वह दशा इस मास में फिर आई, परन्तु पहले उसमें केवल भय था और इस समय उसमें "प्यार भरा भय"। ठीक उस मनुष्य के समान जो अपनी प्रेयसी के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण अपने मस्तिष्क में यह सतर्कता बरतता है कि वह जान बूझकर या अनजाने कोई ऐसा कार्य न कर डाले जो उसकी प्रेयसी की इच्छा के विरुद्ध हो। दूसरे शब्दों में, ऐसे विचार की पृष्ठभूमि में भय सदा बना रहता है, पर यह भय अब प्रेम में परिवर्तित हो गया है। वह चेतनता जिसकी प्राप्ति के लिये मैं दीर्घकाल से उत्सुक था आपकी कृपा एवं प्यार के कारण अब मुझमें आ गई है। जब मैं सोकर उठता हूँ तो मुझे यह नहीं मालूम पड़ता कि मैं सो रहा था वरन् यह अनुभव करता हूँ कि मैं जाग रहा था। कभी-कभी जागने पर मुझे लगता है कि समाधि से उठा हूँ। बहुधा जग जाने पर मैंने महसूस किया है कि प्रकृति किसी कार्य के लिए मेरा प्रयोग कर रही है। निस्सन्देह सोने और जागने में इतना अन्तर है कि नींद में तो मैं बिना नियन्त्रण के कार्य करता हूँ और जागृतावस्था में नियन्त्रण के साथ। जग जाने पर, कभी-कभी, जो कुछ भी मैं स्वप्न में कर रहा था, उसका अनुभव करता हूँ। उन पर्दों एवं चक्रों की दशा का ज्ञान जिनमें मैं स्वप्नों के बीच

सोता हूँ, कभी-कभी एक अनिश्चित विचार के रूप में होता है। प्रशिक्षण की विधियाँ अपने आप संकेतों एवं उपमाओं के रूप में मेरी समझ में आ जाती हैं, और मेरा साहस बढ़ रहा है। जब कभी मैं ध्यान करता हूँ तो अतीत तथा वर्तमान के सन्तों को अपनी ओर उसी प्रकार मुखातिब पाता हूँ जिस प्रकार सूर्य की किरणें अपनी पूरी शक्ति भूमध्य रेखा पर डाल रही हों।

अपने से सम्बन्धित वर्तमान सन्तों से आती हुई ईश्वरीय कृपा की धाराएँ (उस धारा के अतिरिक्त, जो मेरी ओर सदा बहती रहती है) प्राप्त कर लेना क्या इस गरीब के लिये कोई गर्व की बात नहीं है? मैं इससे अधिक लाभ उठाता हूँ और वैसी ही दशा इस सेवक में बनी रहती है जैसी कि एक दास द्वारा अनुभव की जाती है। मैंने इसका परीक्षण अनेकों बार किया है और उसे सही पाया है।

आपकी कृपा से मुझे कोई सांसारिक चिन्ताएँ नहीं। केवल दूसरे संसार की चिन्ता है। जितनी ही तीव्र यह होती है उतना ही यह विचार अधिक शक्तिशाली हो जाता है कि मैं दूसरे संसार के लिए कोई तैयारी नहीं कर सका हूँ। मैं जीवन की अपेक्षा मृत्यु पसन्द करता हूँ और उत्सुकता के साथ उसका (मृत्यु का) इन्तजार करता हूँ।

१ जून, १८३०

दशा जो साधारण छाई रहती है, बनी रही।

२ जून, १८३०

एक सन्त को स्वप्न में दुबारा देखा और कृपा प्राप्त किया।

३ जून, १८३०

दिन में हृदय पूर्णतया आवेशित (Charged) था और मस्तिष्क लवलीन।

४ से १० जून, १८३०

मैं एक यात्रा पर था।

११ से १४ जून, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

१५ जून, १८३०

लोगों को देखने पर मुझे तरस आता है कि वे अपने आप को भूल गये हैं और काल के विनष्टकारी स्वभाव के वशीभूत हो, वे अनिच्छा से संसार की ओर मोड़ दिये जाते हैं।

१६ जून, १८३०

ईश्वर-भय की हालत बनी रही। रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं, आप तथा एक अन्य सन्त के साथ भोजन कर रहा हूँ। मैं भोजन से ऊब गया और टहलना आरम्भ किया। बाद में हम तीनों ने सारा भोजन समाप्त कर दिया। उसके बाद मैं एक स्थान को गया जहाँ एक मकान था और उसमें एक फाटक था कुछ सहयोगी सत्संगी वहाँ पर एक पूज्य सन्त की इन्तजारी कर रहे थे। मैंने आपसे एक सिटिंग (Sitting) देने की प्रार्थना की। आपने मुझे सत्संग का संचालन करने की आज्ञा दी। मुझे उसके आगे याद नहीं।

१७ जून, १८३०

ईश्वर-भय की दशा अपरिवर्तित। रात्रि में मुझे लगा कि किसी धूमिल छाया ने दो बार अपने हाथ मेरे हृदय की ओर बढ़ाए।

१८ जून, १८३०

मैंने स्वप्न देखा कि भण्डारा का सुअवसर था और मैं अपने मालिक की ओर पैर करके लेटा हुआ था। मेरे अन्दर सिर से पाँव तक एक ऐसी शक्ति भर दी गई थी कि मैं उठ न सका। यद्यपि मैंने महसूस किया कि मालिक की तरफ अपने पैर करना मेरी अभद्रता थी, पर मैं लाचार था। मैंने कुछ लोगों से कहा कि मुझे उठा दें परन्तु कोई वैसा करने के लिये तैयार न हुआ। अन्त में मालिक ने कहा कि मैं थक गया था और किसी को मुझे उठाना चाहिए। इस पर पण्डित रामेश्वर प्रसाद ने मुझे उठाया। तब मैंने पूज्य सन्तों के साथ कुछ बातें कीं जिसका मुझे स्मरण नहीं।

२२ जून, १८३०

दिन में समय-समय पर वासनात्मक विचार दखल डालते रहे। रात्रि में स्वप्न देखा कि कुछ महिलाएँ मेरे मकान में (जो पुराना था और अब फिर से बनवाया गया था) ठहरी हुई थीं। मैंने उन्हें घर छोड़ देने को कहा। उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया। मैंने उनसे कहा कि मैं देखता हूँ कि वे कैसे मेरा मकान नहीं छोड़तीं। वे चुप हो गईं जिसका अर्थ था कि वे छोड़ देंगी। (मैंने अपने रूढ़िगत विचारों के कारण उन्हें हवा में रहने वाली समझा)। मैंने उन महिलाओं से बैठ जाने को कहा यदि वे मोक्ष चाहती थीं। उसमें से एक बैठ गई। मैंने उसे प्राणाहुति देना आरम्भ किया। तब मैं जाग उठा और महसूस किया कि मैं वास्तव में प्राणाहुति दे रहा था।

२३ जून, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

२४ जून, १८३०

जब मैं प्रातः उठा तो निम्नांकित पद स्वयं ही मेरी जिह्वा की छोर पर आ गए।

"फूलहिं फलहिं न बेंत यदपि सुधा वरसहिं जलद"!

शेष अपरिवर्तित है।

२५ जून, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मेरे मालिक अपनी एक अँगुली से हवा में वृत्त बना रहे थे और मुझे फकीरी, कबीरी और औलिया के अर्थ समझा रहे थे। उन्होंने औलिया के क्षेत्र की व्याख्या किया और उस क्षेत्र की हालत का मुझे अनुभव कराया। जागने पर वह मुझे याद था। मैं पुनः सो गया और फिर स्वप्न देखा कि कुछ लोग एकत्रित थे और मैं गुरु जी महाराज की याद में फूट-फूटकर रो रहा था तथा वे मुझ पर दैवी आनन्द बिखेर रहे थे। इसके आगे मुझे कुछ याद नहीं। जब मैं प्रातः उठा, तो दशा बहुत शान्तिमय थी।

२७ जून, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त ने मुझसे पूछा कि विराट की दशा किस प्रकार किसी व्यक्ति में प्रविष्ट की जाती है। मैंने उत्तर दिया कि कदाचित् उसका खाका विचार में भरने के लिए बनाया जाता था और तब उस व्यक्ति विशेष के हृदय में उसे प्रविष्ट कराकर विचार-शक्ति द्वारा उसे वहाँ पर विस्तारित किया जाता था। यह मालिक द्वारा सही प्रमाणित किया गया था।

२८ से ३० जून, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

जुलाई की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

श्रद्धेय मेरे मालिक!

प्रणामोपरान्त यह निवेदन करता हूँ कि जून माह सन् १९३० की दैनन्दिनी में मैंने अपने आपको बबूल के वृक्ष की भाँति बताया था। दशा तो वैसी ही है पर रङ्गरहितता तथा दशाहीनता इस सीमा तक बढ़ गई है कि अन्दर और बाहर, एक रंगरहित एवं दशारहित अवस्था छाई सी रहती है। एक विचार जो मेरे अन्दर पैदा हुआ वह यह है कि मेरा अन्तर एवं बाह्य अस्तित्व दोनों सुन्दर है और मैं एक पावन सौन्दर्य का अनुभव करता हूँ। शरीर के अणु सूक्ष्म एवं चमकीले लगते हैं। फिर भी एक वस्तु बहुधा मानसिक अस्थिरता पैदा करती है। कहने का तात्पर्य है कि पवित्रता एवं अपवित्रता दोनों सर्वथा विरोधी होते हुए भी महसूस होती हैं। ब्रह्माण्ड में पवित्रता की अनुभूति होती है और पिण्ड-प्रदेश में विशेषकर हृदय के समीप एवं उसके क्षेत्र में अपवित्रता की। पर, जब अपवित्रता की हालत रहती है तो ऐसा लगता है कि आकाश से असंख्य छोटी-छोटी धाराएँ गिर रही हैं। मेरी मानसिक अस्थिरता का एक अन्य कारण यह है कि मेरी सभी पुरानी कमजोरियाँ जिनमें से अनेकों मेरे विचार में भी नहीं थीं, इस महीने में नजर आने लगी हैं।

मस्तिष्क में एक प्रकार की व्यक्तिवादिता की अनुभूति होती है। व्यक्तिवादिता से मेरा मतलब है

अहं का यथासम्भव सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप, अथवा, बोध शक्ति (Perception) कदाचित इसका ठीक अर्थ होगा। पर यह व्यक्तिवादिता अथवा बोध शक्ति केवल विचारयुक्त है और अधिकतर भौतिक गुणों से रहित मालूम पड़ती है। मैं समझ नहीं पाता कि यह क्या वस्तु है? क्या यह अनस्तित्व का अस्तित्व में लाए जाने का कारण है? अथवा, क्या यह अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है? अथवा, क्या यह किसी ईश्वरीय अवस्था का एक प्रतिबिम्ब या झलक है? यह किंचितमात्र भी समझ में नहीं आता। जो कुछ भी आनन्द मुझपर सीधा उतरता है वह आपकी महती कृपा एवं प्यार के कारण है। उसका जाल हृदय के माध्यम से बाहर फैलता रहता है और जब मैं ध्यान करता हूँ तो ऐसा लगता है कि प्रकृति, किसी वृत्त के अन्दर, मेरे प्राणाहुति की अशान्तता रूपी यन्त्र से ताना बुन रही है, और यह वृत्त निस्सीम मालूम पड़ती है। मैं अपने अन्दर शक्ति का एक जबरदस्त उभार महसूस करता हूँ। यद्यपि शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जुलाई के महीने में सृष्टि निर्माण के विचार मेरे अन्दर गूँजते रहे पर मैं यह नहीं कह सकता कि वह भ्रम था या सत्य। एक विचार जो बहुधा गूँजता रहता है वह है "क्या मैं अपना शरीर छोड़ दूँ और स्वतंत्र हो जाऊँ?"

१ जुलाई, १९३०

साढ़े तीन बजे सायं दीर्घकाल तक कण्ठचक्र के समीप एक

फड़फड़ाहट की अनुभूति हुई। उस बिन्दु पर एक भँवरदार वृत्त मालूम पड़ी।

२ जुलाई, १९३०

दशा अपरिवर्तित।

३ जुलाई, १९३०

शाम को हृदय भारी था और उसमें रंज था।

४ जुलाई, १९३०

नौ बजे रात्रि में लगा कि मेरी दशा में एक परिवर्तन हो गया। मैं उस व्यक्ति की भाँति लगा जिसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गई हो और वह किसी स्थान पर लाया गया हो और तब उसकी आँखें खोल दी गई हों; यद्यपि ऐसा व्यक्ति उस स्थान को जाने वाले मार्ग को न जान पाएगा पर फिर भी वह वहाँ की जलवायु का आनन्द उठाएगा।

५ जुलाई, १९३०

इसकी अनुभूति थी कि अन्दर और बाहर मैं सुन्दर था और मैंने एक पावन सौन्दर्य महसूस किया था।

६ जुलाई, १९३०

ऊपर लिखित भाव बना रहा।

७ जुलाई, १९३०

मुझे लगा कि सभी संस्कार अपने स्थानों को छोड़कर हृदय के समीप एकत्रित हुए थे और मुझे कर्मों का फल भोगने के लिए उद्यत कर रहे थे। यह बात अनुमानतः गत आठ महीनों से बनी रही है पर मैंने उसे महसूस नहीं किया था। जब वह अपनी

समाप्ति पर आई तब मैं उसे जान सका। यही कारण था कि एक दिन भी दर्दरहित न था।

८ जुलाई, १८३०

मैं अपने अन्दर अत्यधिक असीमित शक्ति एवं साहस महसूस करता रहा।

१० जुलाई, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक पूज्य सन्त मेरे बाईं तरफ एक कुर्सी पर बैठे थे और कह रहे थे कि मैं जिस मकान में रह रहा हूँ वह मनहूस था और मुझे उस मकान में जिसमें मैं, पहले रह रहा था, रहना चाहिए। मैं जाग उठा। मेरा विचार था कि जब एक घर में किसी सन्त की चरण रज पड़ जाती है तो उस घर की मनहूसियत कायम नहीं रह सकती। प्रत्युत वह स्थान पवित्र हो जाता है।

११ से १४ जुलाई, १८३०

दशा अपरिवर्तित।

१५ जुलाई, १८३०

सन्ध्यासमय से कुछ वासनामय विचार बराबर आते रहे, पर वे आए और गायब हो गए।

१६ जुलाई, १८३०

ऊपर वाली दशा बनी रही। रात्रि में एक स्वप्न देखा जिसका केवल कुछ अंश याद है—कि मैंने मालिक की एक झलक देखी। एक पूज्य सन्त आपको प्राणाहुति देने के लिए मेरे घर पर आए और दिया। मैं आपके समीप बैठा था इसलिये मैंने भी उससे लाभ उठाया। रात्रि में ढाई बजे से आठ बजे प्रातः

तक हालत बड़ी अच्छी थी। उस दशा को समझाने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं। मेरी आँखें खुलतीं और फिर मुँद जाया करतीं।

१७ **जुलाई**, १८३०

दिन भर मैं अकारण परेशान और घबड़ा रहा था।

१८ **जुलाई**, १८३०

शान्तिमयता अत्यधिक थी।

१८ **जुलाई**, १८३०

ऊपर वाली दशा, जैसी रहा करती थी, बनी रही।

२० **जुलाई**, १८३०

दोपहर दो स्वप्न देखा कि एक पूज्य सन्त ने मुझे तेज प्राणाहुति दिया। मेरा सिर और बाद में मेरा सम्पूर्ण शरीर दैवी आनन्द से भर उठा। मैं आधा झुका हुआ और आधा बैठा हुआ था मानो कोई झपकी की हालत में झटके खा रहा हो। पूज्य सन्त ने कुछ प्यार भरे शब्द कहे जो मुझे याद नहीं।

२१ **से** २५ **जुलाई**, १८३०

सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी जटिलताओं के विचार गूँजते रहे।

२६ **जुलाई**, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मेरे शरीर का प्रत्येक कण चमकीला था और ईश्वर की याद में व्यस्त था। प्रत्येक कण में प्रकाशमय-प्रकृति का आनन्द सीधा उतर रहा था।

२७ जुलाई, १८३०

दशा बड़ी हल्की थी। प्रातःकाल अत्यधिक धर्मनिष्ठा की अनुभूति हुई। लगभग ३ बजे प्रातः स्वप्न देखा कि मैं ध्यान कर रहा था और दो व्यक्ति मेरे पीछे बैठाए गए थे। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उनकी ओर भी ध्यान दूँ। अतः मैंने प्राणाहुति देना प्रारम्भ किया और उन व्यक्तियों ने ध्यान करना शुरू किया। जब मैं ६ बजे प्रातः जागा तो मुझे लगा कि मैं वास्तव में प्राणाहुति दे रहा था और आनन्द मुझपर भी उतर रहा था। जागृतावस्था में भी मैं उसी गति से लगातार लगभग १५ मिनट तक प्राणाहुति देता रहा।

२८ जुलाई, १८३०

रात्रिसमय स्वप्न में मैंने एक सन्त को देखा और जाना कि हम दोनों अगल बगल बैठाए गए थे। उन्होंने बताया कि उस समय मेरी दशा तीव्र होती जा रही थी। वास्तव में ऐसा था भी। तब स्वप्न में मैं बाजार गया और एक चारपाई पर बैठकर पूरे संसार को प्राणाहुति देना प्रारम्भ किया। तदुपरान्त मैं अपने घर लौटा और उन सन्त महाशय को वहाँ मौजूद पाया। इसके बाद मुझे कुछ भी याद नहीं।

२९ जुलाई, १८३०

बाहर और भीतर, दोनों, रंगविहीनता की अवस्था का अनुभव करता रहा।

३० जुलाई, १८३०

अन्दर और बाहर रंगविहीनता बराबर मालूम पड़ती रही।

३१ जुलाई, १९३०

आपको तथा एक सन्त को स्वप्न में देखा पर स्वप्न याद नहीं।

अगस्त १९३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों संसार के श्रद्धेय मालिक !
आप चिरजीवी हों !

मेरा नम्र निवेदन है कि रंगविहीनता एवं विचारसूक्ष्मता के कारण जो दशा हर समय बनी रहती है उसका अनुभव नहीं होता। कल्पना एवं बुद्धि उस हालत को समझ सकने में असमर्थ मालूम होती हैं और उसी हालत में मैं सभी सांसारिक एवं आध्यात्मिक कार्य करता रहता हूँ और इन दोनों प्रकार के कार्यों की इकाई एक सी लगती है। जो कुछ भी मैं करता हूँ पूजा लगता है। कहने का तात्पर्य है कि हँसना, बोलना और सभी कार्य पूजा के अन्तर्गत लगते हैं। यह सब कार्य करते हुए भी मैं अपने को उन सभी से सर्वथा मुक्त पाता हूँ। एक आश्चर्य की बात यह है कि जब मैं ध्यान अथवा जप करता हूँ तो यह मालूम नहीं पड़ता कि यह सब कौन करता है और किसके लिए कर रहा है। उदाहरणार्थ, यह उस मनुष्य की भांति है जो तेज ज्वर में बेसुध है और बड़बड़ाता है; अथवा, उस मनुष्य की भाँति जो बेहोश करने वाली औषधि के हल्के प्रभाव में अपना हाथ पैर तो हिलाता डुलाता है पर उसे उसका ज्ञान

नहीं रहता; अथवा, उस मनुष्य की भाँति जो नींद में खुजलाहट दूर करने के लिए अपने शरीर को खुजला देता है और खुजलाहट दूर हो जाती है पर जागने पर उसका उसे जरा भी ज्ञान नहीं रहता। सृष्टिकर्त्ता का विचार तो मुझे पहले ही छोड़ चुका है और इस कारण उसका आदी हो जाने से एक प्रकार का थोड़ा पछतावा मालूम होता है। अकेले ही यह क्रिया हृदय की शक्ति का एक स्रोत थी। तिसपर भी "मैं उसमें प्रसन्न हूँ जो तेरी इच्छा है।" इसके पहले वाली दैनन्दिनी में मैंने लिखा था कि अनर्गल विचारों एवं पिछली त्रुटियों ने प्रकट होकर गड़बड़ी पैदा कर दिया था। पर ईश्वर को धन्यवाद है कि अगस्त के अन्तिम सप्ताह से यह अब वैसा केवल नाममात्र का है। मैं सृष्टि के प्रत्येक अणु तथा अपने वर्ग एवं वर्गेतर सन्तों के साथ भी एक जोड़ एवं सम्बन्ध का अनुभव करता हूँ।

४ अगस्त, १८३०

लगभग ११ बजे दिन में प्रसन्नता की अनुभूति हुई। एक गूँगे-बहरे की सी हालत थी।

८ अगस्त, १८३०

रात्रि में ११ बजे मुझे लगा कि प्रत्येक कण, त्रिमूर्ति तथा आध्यात्मिक संसार के हमारे वर्ग और अन्य वर्गों के सन्तों के साथ एक कड़ी जुड़ी हुई थी। रात्रि में स्वप्न देखा कि मुंशी माताप्रसाद (जो उस दिन यहाँ ठहरे हुए थे) के बजाय मैं ध्यान में बैठा हुआ था और एक मंत्रोच्चारण कर रहा था। अन्दर से

कोई शक्ति मुझे उस मंत्र का उच्चारण कई बार करने को प्रेरित कर रही थी। उसके पूर्व मैं किसी अन्य मन्त्र का भी उच्चारण कर चुका था। साथ ही साथ, मैं ध्यान भी करता जा रहा था। जब मैं जागा तो ८ बार मन्त्रोच्चारण कर चुका था।

१० अगस्त, १८३०

स्वप्न देखा कि एक कोने में एक सर्प ऊपर चढ़ने का प्रयास कर रहा था और समीप ही एक हिरन का सिर था जिसे सर्प ने काट खाया था। हिरन के उस सिर के ऊपर एक हाथी जिसका सूँड़ कपड़े से ढँका हुआ था एक आले पर खड़ा इस इन्तजार में था कि मैं उस सर्प को मार डालूँ। हाथी कुछ नीचे उतरा। इसी बीच सर्प ने कूद कर मेरी दाहिनी जाँघ में काट लिया। काटने के साथ ही सर्प प्राणहीन हो गया। मैंने तब उसे अपने हाथों से अलग कर दिया।

१२ अगस्त, १८३०

रात्रि में एक लम्बा स्वप्न देखा जिसका कुछ ही अंश याद है। मेरे मालिक किसी से बातें कर रहे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने उसका जवाब दिया। फिर मैंने अपना सिर झुका लिया। मुझे मालिक का तथा स्वयं अपना शरीर धुँधला दिख रहा था। कुछ समय तक मैं मस्तक झुकाए बड़ी विनम्रता से बैठा रहा। उसके बाद मैं जाग गया।

१८ अगस्त, १८३०

दोपहर में स्वप्न देखा कि एक सर्प जैसा रेंगने वाला जन्तु एक दीवार से दूसरी दीवार पर रेंगता चला गया। मैं कमरे में एक कालीन पर लेटा हुआ था और पंडित रामेश्वर प्रसाद भी

मौजूद थे। कुछ दूरी पर, ऊपरी तरफ मालिक बैठे हुए थे। मेरे पास बाईं ओर एक अन्य सन्त लेटे हुए थे। सन्त जी ने मुझे और रामेश्वरप्रसाद को प्राणाहुति दिया। रंगविहीनता की एक दशा तीव्रता के साथ बनी रही। उसका आनन्द वर्णनातीत था। रामेश्वर प्रसाद ने अपनी दशा का वर्णन करने का प्रयास किया पर सन्त जी ने उनसे कहा कि वे मुझसे वर्णन करें। तब मैं उस कमरे से बाहर चला गया और एक नदी के बीच धार में, जहाँ एक कोठरी बनी हुई थी, बैठ गया। कोठरी जल से भरी हुई थी। मैंने डुबकियाँ लगाईं और तैरा भी। तब मैंने एक गाय को देखा जो अपने स्वामी के पास दो माह से नहीं गई थी। उस कोठरी में तैरते हुए मैंने उस गाय को उसके स्वामी के पास तक पहुँचा दिया। तैरना इस ढंग का था कि मेरा सम्पूर्ण शरीर पानी के अन्दर था पर मेरा सिर जो पानी के ऊपर था एक मनुष्य की गोद में था। मैं उस मनुष्य को जानता हूँ। वह किसी सत्सङ्गी का छोटा भाई था। वह भी मुझे सहला रहा था। जब तक कि मैं नदी के किनारे नहीं पहुँच गया, यात्रा जारी रही। मेरे ख्याल से वह स्थान बाँदा ज़िला था और मालिक वहाँ मौजूद थे। उस व्यक्ति ने जिसकी गोद में मेरा सिर था, कहा कि महात्मा जी ने मुझे बड़ी जल्दी ही प्रशिक्षित कर दिया था। उस कोठरी से निकलने पर मैंने उससे कहा कि उसे भी महात्मा जी से सीखना था, पर उसने अनिच्छा एवं नाउम्मेदी जाहिर किया।

१८ अगस्त, १८३०

दोपहर में अत्यधिक बेचैनी थी और मैंने विवश हो घर से भाग जाना चाहा। हृदय भारी था। संसार छोड़कर मैंने इधर-उधर भ्रमण करना चाहा। वातावरण में विषैली वस्तुएँ मालूम पड़ती थीं; वासना एवं कामुकता के अनर्गल विचार उसमें

तैरते मालूम पड़ते। संसार तथा उसके गुण-दोषों के वचारों का एक चित्र आँखों के सामने था। जब किसी प्रकार मुझे कोई राहत न मिली तो मैं सोने चला गया। जागने पर मैं शान्त हो गया था।

२१ अगस्त, १८३०

दस बजे प्रातः ऐसा लगा कि प्रत्येक क्षण और पत्ता ईश्वर की याद में संलग्न था पर माननीय मानव नहीं!

२३ अगस्त, १८३०

१० बजे रात्रि में ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ भी मैंने किया था वह सब पूजा थी। लयावस्था में ऐसा भी लगा कि कोई व्यक्ति सुन्दर श्वेत चादर में लिपटा हुआ मेरे साथ मेरी चारपाई पर बाईं ओर लेटा हुआ था।

२८ से ३१ अगस्त, १८३०

मैं जिस किसी के भी साथ बैठता उसकी अस्वच्छता मुझे बेचैन कर देती; और यदि किसी में अधिक गन्दगी होती तो मुझे के मालूम होती। ऐसी हालत मथुरा में शुरू हुई। मैं उन दिनों वहाँ पर था। मैं पुनः एक बार निवेदन करता हूँ कि अब मुझे दशाओं में कोई रुचि नहीं, और न तो मुझे उनमें कोई आनन्द ही मिलता है। यह सब एक पहेली है जो मेरे सम्मुख बारंबार आती है।

सितम्बर, १८३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों संसार के श्रद्धेय मालिक!
आप दीर्घंजीवी हों!
विनम्र निवेदन है कि अपने स्वास्थ्य लाभ के

समय से मैं आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ का भी अनुभव करता हूँ। सम्बन्धित दशाएँ बिदा ले चुकी हैं और इन दशाओं में कोई रुचि नहीं है। वास्तव में वे सभी माया की मृगतृष्णायें थीं जो बहुधा विभिन्न रूपों में एक पहेली की भाँति प्रकट होकर विचार को स्वयं अपनी ही ओर मोड़ लिया करती थीं। भावों का यह जीवन समाप्त हो गया है। अब न तो ध्यान है और न ही दैवी प्रकाशन। केवल एक ही दशा चौबीसों घण्टे बनी रहती है, पर, फिर भी जब आनन्द की धार तेजी से उतरती है, अन्दर लहरें मालूम पडती हैं। न तो उत्साह है, न उद्वेग और न तेजी, यद्यपि साहस अधिक है। अस्तु, मैं इस दशा को हर्षोन्माद की दशा कहता हूँ और यदि मैं उसे ऐसा न कहूँ तो ईश्वरीय आशीर्वाद के प्रति अकृतज्ञता होगी।

मेरा काम करने का जी नहीं चाहता। मैं एक लकड़ी के कुन्दे की भाँति आराम से पड़ा रहना चाहता हूँ। दिन प्रतिदिन सूक्ष्मता बढ़ती जा रही है। पर नैतिक अवस्था को क्रोध कभी-कभी अपवित्र कर देता है। मनःस्थिति नियन्त्रण के बाहर हो जाती है। जब मनःस्थिति नयन्त्रण के बाहर होती है तो नैतिकता भी विलुप्त हो जाती है। दूसरों को आघात पहुँचता है और मुझे दुःख होता है। मेरा हृदय मुझे बताता है कि केवल अभी से आध्यात्मिकता का आरम्भ हुआ है। पर जैसी कि कहावत है "दिल्ली अभी बहुत दूर है" (दिल्ली दूरस्त)। मस्तिष्क में व्यवस्थितता का विचार अकसर गूँजा करता है और मेरा अनुमान है

कि इसकी नींव भी आप ही की महती कृपा के कारण डाली गई है।

१ सितम्बर, १८३०

दूसरों की अस्वच्छता का विचार बना रहा। पर पिछले मास की दैनन्दिनी में अंकित विह्वलता अब न थी।

२ सितम्बर, १८३०

दोपहर को मैं सो रहा था। मुझे लगा कि मैं किसी अति सूक्ष्म पर्दे में रह रहा था और निकट ही मेरा हृदय एक गजल गा रहा था तथा किसी महात्मा का विचार मेरे मस्तिष्क पर अधिकार जमा रहा था। गजल की प्रथम पंक्ति अभी मेरे विचार में पूर्णरूपेण नहीं प्रवेश कर पाई थी कि किसी ने मुझे जगा दिया। प्रथम पंक्ति का अर्थ था कि मरणशील मनुष्य के लिए केवल दो गज जमीन काफी है।

४ सितम्बर १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त आये और मुझे एक सिटिंग (Sitting) देना चाहा। पर चूँकि स्वप्न में ही दिन निकल आया था मैं आवश्यक कार्यों से निवृत्त होने पर ही बैठना चाहता था। उनका चरण स्पर्श करने के लिये मैंने अपने हाथ बढ़ाये। मेरा हाथ देहरी से चोट खा गया। उन्होंने कहा कि सिटिंग न लेने की वह सजा थी। तब उन्होंने वहाँ पर उपस्थित लोगों से कुछ प्रश्न पूछे और कहा कि जो लोग उनके विचार से सहमत हों, हाथ उठाएँ। लोगों ने अपने हाथ उठा दिये। उनका आखिरी आदेश था कि जो-लोग भौतिकीकरण के विरुद्ध थे हाथ उठावें। मैंने अपना हाथ उठा दिया। सन्त का कहना था कि सारी शक्तियाँ मुझमें थीं।

१० सितम्बर, १९३०

अत्यधिक शक्ति का अनुभव करता रहा।

१३ से २९ सितम्बर, १९३०

अस्वस्थ रहा। बीमारी में दशा को न जान सका। उसके बाद मैंने एक समभाव की दशा महसूस करना आरम्भ किया।

अक्टूबर १९३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों संसार के श्रद्धेय मालिक!

आप दीर्घजीवी होवें!

प्रणामोपरान्त विनम्रता से मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि दिन-प्रतिदिन दैनन्दिनी चुप होती जा रही है। स्वप्न भी बिरले ही दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जो कुछ मैं समझ सका हूँ बड़े प्रयत्न पूर्वक लिख रहा हूँ। छाई हुई दशा में विचार लय हुआ सा लगता है। यही मैं चाहता था और वह हो भी गया; पर लय होना उस सीमा तक का नहीं है जैसा कि मेरे विचार में था। असावधानता निश्चय ही बनी रहती है। इसका पता इस प्रकार चलता है कि मैं एक कार्य करना चाहता हूँ पर आरम्भ करता हूँ कोई दूसरा; अथवा मैं किसी गली में मुड़ना चाहता हूँ पर उससे कुछ कदम आगे बढ़ जाता हूँ; या बातचीत के दौरान में कुछ का कुछ कह जाता हूँ। पर साथ ही साथ, सावधानता भी उतनी ही रहती है जितनी कि असावधानता। प्रायः कभी-कभी प्रसन्नता बढ़ जाती है; अन्यथा दशा अधिकांशतः बहुत हल्की रहती है, और मैं अकसर एक बड़ी शान्त दशा का अनुभव करता हूँ। बाहर भीतर, दोनों, शिष्टता एवं संस्कृति के विचार स्थापित

हो गये हैं। भीतर की दशा जो बढ़ी हुई सूक्ष्मता के साथ अत्यन्त सम्मानित थी, अब एक नवीन आनन्द के साथ सम्मानित रहती है। मेरी समझ में वह नवीन आनन्द इस कारण है कि सम्मानितता के साथ अधिक विनम्रता एवं पूजा जोड़ दिये गये हैं। मेरी भूल से उत्पन्न एक मूर्खता यह है कि जब कोई मेरे साथ दुर्व्यवहार करता है तो मैं क्रुद्ध हो जाता हूँ। वास्तव में आन्तरिक अशिष्टता अधिक आक्रमणकारी मालूम पड़ती है। कभी-कभी मैं अपने आपको "साक्षात् पूजा" समझने लगता हूँ।

१४ अक्टूबर, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि हिन्दू और मुसलमानों में दंगा हो गया था और मैं कचहरी जाना चाहता था। मैं आपके पास गया और प्राणहुति से लाभान्वित हुआ। आपने मुझे आपकी ही ओर देखते हुए जाने का आदेश दिया और कहा कि मुझे कोई कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेगा। इसके अतिरिक्त मैं कदाचित् अपनी दाढ़ी के कारण मुसलमान लगता था। उसके बाद मैं बराबर गया और मुसलमानों के गुटों का खेल देखा। किसी ने मुझे हानि नहीं पहुँचाई। लौटने पर आपने फिर मुझे प्राणाहुति दी और मैं आपका रूप निहारता रहा। यह एक लम्बा स्वप्न था जो मुझे पूरा स्मरण नहीं।

नम्बर, १८३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों संसार के श्रद्धेय मालिक!
आप दीर्घजीवी हों!
प्रणामोपरान्त मेरा निवेदन है कि मेरी दशा

ऐसी हो रही है कि "कभी-कभी तो मैं उच्चतम चोटी पर बैठता हूँ और कभी मैं अपने पैर का पृष्ठ भाग भी नहीं देख पाता।" कभी-कभी हालत अत्यधिक सूक्ष्मता एवं दशाहीनता के साथ अत्यन्त शान्त हो जाती है। कभी-कभी बुद्धि इतनी साफ हो जाती है कि अनेकों गुत्थियाँ स्पष्टतया सुलझी हुई लगती हैं। कभी-कभी अनुभव शक्ति अत्यधिक तीव्र हो जाती है। इतनी तीव्र कि प्रत्येक विचार एवं मानव-अवस्था तथा वातावरण, आकाश एवं स्थान विशेष पर उनके प्रभाव बिना किसी मिश्रण के; मूल रूप में मालूम होते हैं। परन्तु प्राणाहुति की पूरी धारा किसी भी ओर नहीं जाती। वह स्वयं अपने आप ही में जम गई है। इसके विपरीत, एक ऐसी दशा रहती है जब एक हाथ दूसरे हाथ को नहीं देख पाता है; और मैं अपने आप को इतना अधिक गया गुजरा, कायर (मानो कोई किसी के द्वारा लूट लिया गया हो), अनर्गल विचारों का शिकार, और मुसीबतों में खोया हुआ, समझने लगता हूँ कि मैं संसार के प्रत्येक व्यक्ति को जिसे कभी भी दिव्यता की किंचितमात्र भी झलक न मिली हो, अपने से अच्छा समझने लगता हूँ। फिर भी, एक वस्तु जो मुझे सान्त्वना देती है, यह है कि अन्दर आने वाले विचारों के समुदाय का स्तर बिना बुलाए मेहमानों का सा है और उनमें से अधिकतर में शाखाएँ नहीं निकलती हैं और न तो वे याद रहते हैं। तकलीफ़ जो हृदय पर पतिंगों की भाँति व्यर्थ चक्कर काटती रहती हैं कभी-कभी उस सर्प की भाँति एक भावना उत्पन्न करती हैं जो अपनी मणि से वंचित कर दिया

गया हो। एक ऐसे विचार का अनुमान मैंने किया है (अनुमान सही है अथवा नहीं, कह नहीं सकता) कि यह दशा एक 'आवाज दिल' अथवा अपने उद्देश्य की याद दिलाने के लिए एक नगाड़े की चोट की भाँति है। महात्मा गाँधी ने कहा है कि मुक्ति का मार्ग कारागार में से गुजरता है। मेरी समझ में शाश्वत मुक्ति अथवा अमर्त्य जीवन का मार्ग इन्हीं काँटों एवं घासपातों से गुजरता है क्योंकि जब यह दशा आती है तो वेदनाएँ बेहद बढ़ जाती हैं।

एक झक अथवा मानसक प्रवृत्ति की विशेषावस्था, जो मुझमें व्यर्थ ही रहती है, यह है कि मैं उसे अब भी प्रथमावस्था ही महसूस करता हूँ। कहने का तात्पर्य है कि आपकी महती कृपा एवं प्यार के कारण जो कुछ भी दशा मैं प्राप्त करता हूँ वह केवल प्रारम्भिक अवस्था ही मालूम पड़ती है। कभा-कभी मैं यह अवश्य महसूस करता हूँ कि आध्यात्मिकता प्रारम्भ हो गई है और कभी मुझे यह भ्रम हो जाता है कि यह सब तो मार्ग की घटनाएँ मात्र हैं और आध्यात्मिकता तो अभी प्रारम्भ भी नहीं हुई है। यह सब वस्तुएँ बहुधा मुझे संशय में डाल देती हैं और इन दोनों में से किसी एक को भी स्थिर नहीं रहने देतीं। यद्यपि किसी ने सच कहा है कि जो जहाँ कहीं भी पहुँचे वही प्रारम्भ है, अन्त नहीं। इस महीने मुझे एक नयी वस्तु की अनुभूति हुई है—वह यह है कि जो साहस आपने मुझे दिया था वह मेरी किसी कमी अथवा त्रुटि के कारण अब नहीं है। फिर भी, आवश्यकता पड़ने पर मैं अपने को एक

कमजोर एवं डरपोक क्षत्री की भाँति समझने लगता हूँ जो अपनी जाति एवं राष्ट्र की बहादुरी बताने पर साहस एवं उत्साह बटोर लेता है और अपने कुटुम्ब एवं राष्ट्रीय गर्व के प्रभाव में कभी-कभी अपने बूते के बाहर कार्य करने को उद्यत हो जाता है। शरीर में स्थूल एवं सूक्ष्म के सम्बन्धों को मैं बिल्कुल टूटा हुआ पाता हूँ, नील नदी के जल की भाँति विलग। जब मैं बात करता हूँ अथवा कुछ करता हूँ या "मुझ और हम" शब्दों का उच्चारण करता हूँ तो वे सब सूक्ष्म शरीर द्वारा प्रोत्साहित होते हैं। और सभी कार्यों का करने वाला केवल सूक्ष्म शरीर ही लगता है। गहरा विचार करने के पश्चात् यह मालूम किया गया है, यद्यपि कार्य करते समय इस धारणा का बना रहना कि सूक्ष्म शरीर कार्य कर रहा है आवश्यक नहीं। सांसारिक अथवा सरकारी कार्य करते समय मुझे नहीं मालूम होता कि कार्य कौन कर रहा है। सूक्ष्म प्राणी की दशा उस मासूम बच्चे के समान लगता है जिसमें अधिकांशत: आपका प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उसे एक मासूम बच्चा कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि शक्तियाँ उसमें अन्तर्निहित हैं पर विकसित नहीं।

मैं बराबर यह महसूस करता हूँ कि मेरे शरीर के भीतर माया अपने सूक्ष्मतम रूप में अपना कार्य कर रही है। मैं अपनी अपरिपक्व बुद्धि के अनुसार उसे माया की अन्तिम दशा कहूँगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस दशा को पार करने के पश्चात् माया मुझे कष्ट न देगी। अग्नि मनुष्य को भस्म करती है और विद्युत् जो अग्नि से हज़ार गुना अधिक सूक्ष्म है,

वही कार्य करती है, पर उसकी क्रिया अत्यधिक फुर्तीली एवं प्रचण्ड है। अग्नि से जलना मालूम पड़ता है पर बिजली की क्षणिक कौंध से जल जाना नहीं मालूम पड़ता। अग्नि की लपटों से मनुष्य बच भी सकता है किन्तु बिजली, जो केवल एक काल्पनिक अग्नि है, एक क्षण में ही काम तमाम कर देती है। सूक्ष्म **माया** के प्रभाव के अन्तर्गत वही मुझमें घटित हो रही है। वह कच्ची शक्कर में मिली हुई अत्यधिक कड़वी औषधि के समान कार्य कर रही है। अपने विचारों को प्रकट कर मैंने अपना कर्तव्य निभाया है। जब मैंने अपने आपको **असली ईश्वर** के सुपुर्द कर दिया है तो **वही** मेरा **मालिक** है। जैसा चाहे मुझे बना दे। **सर्वशक्तिमान** का पुजारी बनने का साहस भला इस गरीब में कब था ? पर **मालिक** की यह असीम कृपा है कि मैं आज आपके प्यार की गोद में खुशहाल हो रहा हूँ और यह विचार कि "मैंने आपको अपना सब कुछ अर्पण कर दिया है, आप ही लाभ हानि का लेखा जोखा जानते हैं" मेरे मस्तिष्क में गूँजता रहता है।

२ **और ३ नवम्बर**, १९३०

७ बजे प्रातः से ११ बजे तक दशा अधिक सूक्ष्म एवं मनोहर बनी रही।

७ **नम्बर**, १९३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं किसी स्थान विशेष में मौजूद था। वहाँ कोई यह कह रहा था किसी ने पत्र द्वारा "अहं ब्रह्मास्मि" की दशा के विषय में जानना चाहा था और यह भी

पूछताछ किया था कि "अहं ब्रह्मास्मि" की स्थिति तक पहुँचने के लिये कितनी सीढ़ियाँ थीं। यह पत्र एक व्यक्ति के पास था और वह मुझसे पूछ-ताछ कर रहा था। संयोगवश मैं उस समय सीढ़ी पर चढ़ रहा था और वह व्यक्ति मुझसे पूछताछ करता जा रहा था। मैं उससे कहता जा रहा था कि वह सही था। (मैंने उसे २७ बताने को सोचा था यदि यह आग्रह करता) मैं सीढ़ियों पर चढ़ रहा था और गिनता जा रहा था पर उतर जाने पर मैं उनका जोड़ भूल गया।

फ़तेहगढ़ के श्रद्धेय महात्मा श्री रामचन्द्र जी का पत्र एक प्रिसेप्टर के नाम

प्रिय भाई!

ईश्वर आपको बनाये रखे! जो उसकी इच्छा है केवल उसी की है और केवल वही उपयुक्त समय का जानने वाला है। मेरी इच्छा है कि जो कुछ भी मेरे अन्दर है यह सब का सब मैं बाहर निकाल सकूँ। पर वहाँ तो साहस और केवल साहस ही है। परिस्थितियाँ तथा आवश्यकता के दबाव मुझे अपनी इच्छानुकूल कार्य करने की अनुमति नहीं देते। मैं आपको यथाशक्ति लिखूँगा। कम होने के बावजूद भी यदि यह लाभकर एवं उपयोगी है तो काफ़ी है। अक्लमन्द के लिये इशारा काफ़ी है।

शाहजहाँपुर से आपकी बदली हो जाने के कारण उत्सव के खराब हो जाने की सम्भावना है। इसलिये मैं अपनी ओर से तथा अपने बुजुर्गों की ओर से भाई रामेश्वर प्रसाद को आपकी अनुपस्थिति में यह कार्य

नोट—मूलपत्र पण्डित रामेश्वर प्रसाद जी द्वारा अपने निजी देख-रेख में बहुत सम्भाल कर सुरक्षित रखा गया था।

अपने हाथ में लेने का आमन्त्रण देता हूँ। ईश्वर उन्हें साहस एवं धैर्य दे! अपनी उम्र के तकाजे के कारण लड़कपन के उस छोटे अंश को जो अब उनमें नगण्य सा है, त्याग देने के पश्चात् वे कदाचित् एक प्रतिष्ठा की दशा स्थापित कर लेंगे। ईश्वर उनकी सहायता करे! इस सम्बन्ध में भाई रामचन्द्र में निस्सन्देह योग्यता एवं फुर्तीलापन है पर मुझे खेद है कि अपने पिता के प्रतिबन्धों और हृदय एवं स्थान की संकीर्णता तथा उनके घर की झंझटों के कारण मेरी सूक्ष्म बुद्धि इस समय उन पर उत्तरदायित्व डालने की अनुमति नहीं देती।

मैं ईश्वर से आशा करता हूँ कि वे वर्तमान तरीके की अपेक्षा एक अच्छे तरीके से लाभान्वित होंगे। मैं एटा जाने को था। अब मैं नहीं जाऊँगा। किसी दूसरे समय इसके बारे में सोचूँगा। इन दिनों यहाँ एक साधक ठहरे हुए हैं। वे कदाचित् १५ तारीख को कानपुर जाएगें। सभी लोगों को मेरी दुआएँ एवं आदर सत्कार। यह सम्भव है कि तिलहर में कार्य अधिक बढ़ जाने की सम्भावना के परिणामस्वरूप आपका तबादला (स्थानान्तर) हो गया हो। यह सब केवल उसी को भली प्रकार ज्ञात है।

रामचन्द्र
फ़तेहगढ़ से
८-१२-१८३०

दिसम्बर १८३० की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

प्रणामोपरान्त नम्र निवेदन है कि आपके यहाँ

सब कुशल है और मैं भी कुशलपूर्वक हूँ यद्यपि पिछले कुछ दिनों से मुझे गैस की शिकायत हो गई है।

इन दिनों पं० गंगा सेवक बड़ा परिश्रम कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें शीघ्र ही उस स्थिति तक ले जाय जो उत्कण्ठा का चरमोत्कर्ष है! जब से गुरु महाराज जी के सामीप्य से लौटा हूँ, मैं दिन प्रतिदिन स्वच्छ स्लेट बनता जा रहा हूँ और आरम्भ के पहले वाली हालत में लौट रहा हूँ। शैक्षिक विधि स्वयमेव बिना किसी प्रयत्न के संकेतों एवं उपमाओं के रूप में समझ में प्रवेश कर रही है। कतिपय प्रत्यक्ष तथ्यों को छोड़कर उसे लिपिबद्ध करना अत्यन्त कठिन है। वस्तुतः यह हमारे लिये लगभग असम्भव है। गत माह १ से ११ दिसम्बर तक मैं यह महसूस करता रहा कि शरीर के प्रत्येक छिद्र में एक अँधेरा छाया हुआ था और शरीर के हर कण में एक अत्यन्त तीव्र शक्ति का अनुभव होता था। वह अँधेरापन घोर अथवा पूर्ण अँधेरेपन की भाँति न था किन्तु उसका रंग उस हल्के प्रकाश की भाँति था जिसे कोई व्यक्ति तेज धूप से आने पर किसी कमरे में प्रवेश करते समय अनुभव करता है। उस दशा में वह निस्सन्देह अँधेरापन महसूस करेगा परन्तु उसे वहाँ एक बारीक प्रकाश की किरण भी मिलेगी। यह अनुभव १ से ११ दिसम्बर तक बना रहा। तत्पश्चात् दशा ने एक दूसरा मोड़ लिया जो दो या तीन दिन के ठहराव के पश्चात् समझ में आ सकी। दशा ऐसी थी कि शरीर के प्रत्येक अणु से एक सूखेपन और बालूपन (पर किंचिन्मात्र भी गरम नहीं) की स्थिति का अनुभव हुआ, और एक

अत्यन्त अकेलापन अथवा निर्जनता की दशा मालूम हुई। फिर भी उसमें एक बड़ी दशाहीनता थी। उसमें न तो कोई स्वाद था और न ही अस्वाद। यदि इसकी दूसरे शब्दों में और अधिक व्याख्या दी जाय तो उसकी उपमा एक उस निर्जन स्थान से की जा सकती है जो पूर्णतया गैर-आबाद हो गया है और मनुष्यों द्वारा ही नहीं वरन् पक्षियों द्वारा भी त्याग दिया गया है। जहाँ न तो बसन्त है न पतझड़, न गर्मी और न सर्दी। गत माह के अन्तिम सप्ताह में अशान्तता, बेचैनी एवं चिन्ता अत्यधिक तीव्र थी। अशान्तता तो उस मनुष्य की भाँति थी जिसे जल में डुबा दिया गया हो तथा गर्दन के पिछले भाग को पकड़कर उसे कुछ क्षणों तक जल के अन्दर ही रखे जाने पर विवश किया जाता हो। इस प्रकार मेरी तीव्र बेचैनी का अनुमान लगाया जा सकता है। एक मनुष्य जो इतना भाग्यशाली नहीं है कि उसे सन्त और रक्षक की संरक्षकता प्राप्त हो और यदि उसे ऐसी बेचैनी झेलनी पड़े तो बहुत सम्भव है कि वह आत्म-हत्या कर लेगा। मालिक के संसर्ग में आने के पूर्व मुझमें वह दशा दीर्घकाल तक बनी रही किन्तु उस सीमा तक नहीं जहाँ तक मैं हाल में ही पहुँचा हूँ। इस दशा में मैं किसी ऐसे पक्के या निर्दोष पथ प्रदर्शक की प्राप्ति के लिए लालायित था जो मुझे ईश्वर के बड़े दरबार में ले जा सके। मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ और मुझे अपने भाग्य पर गर्व है कि मुझे ईश्वर ने एक ऐसे पथ-प्रदर्शक के हवाले कर दिया जिसकी चरण रज भी प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन था।

बेचैनी एक सप्ताह तक रही और फिर आनन्द में परिणित हो गई। किसी ने सत्य कहा है "क्रोध की शिकायत न करो क्योंकि भक्ति के मार्ग में जो मुसीबतें सहन नहीं करता वह शान्ति तक कभी नहीं पहुँच पाता।" अब मेरी वर्तमान दशा उस मनुष्य की भाँति है जो किसी निर्जन स्थान में अधिकार विहीनता की स्थिति में बैठा हो।

१३ दिसम्बर, १८३०

फ़तेहगढ़ में चार बजे प्रातः मैंने स्वप्न देखा कि एक सन्त मेरी गाड़ी में बैठे हुये थे और बिना कुछ कहे उन्होंने मुझे दीक्षित कर दिया। तब उन्होंने कुछ अरबी भाषा में मन्त्र पढ़े और मेरा आलिंगन किया। उस समय मेरी आँखों से आँसू बरसने लगे। उन्होंने उसे पोंछ डाला। तत्पश्चात् मुझे पता लगा कि वे मुझे दीक्षित कर चुके थे। मैंने उनको बताया कि मैं तो पहले से ही दीक्षित था और उनके दीक्षित करने का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि वे नहीं जानते थे।

१७ दिसम्बर, १८३०

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं मक्का गया। वहाँ हाजी लोग मौजूद थे। मेरा मस्तक झुका दिया गया। मुझे ऐसा लगा कि वहाँ के लोग मेरी चोटी के कारण मुझे हिन्दू समझकर भगा देंगे। इसी बीच मैं उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ हज़रत मुहम्मद की मजार स्थित है। वह मजार एकदम लाल रंग की थी। कब्र ने हजरत मुहम्मद का रूप धारण कर लिया और ऐसा लगा मानो वे झुके हुए हों। मुस्कराते हुए उन्होंने बताया कि मेरी दशा अत्यन्त सूक्ष्म थी; और उन्होंने मुझे यह कहते हुए उन्नति प्राप्ति करने का आशीर्वाद दिया :

"तुम्हें फलह दरायें नसीब हो!" (तुम दोनों संसार में धर्मपरायण बने रहो)!

२८ से ३१ दिसम्बर, १८३०

रात्रि में मैंने स्वप्न में गुरु जी महाराज को देखा पर मुझे कुछ भी याद नहीं। केवल इतना ही स्मरण है कि मुझे अशीर्वाद दिया गया।

———

१९३१

जनवरी १९३१ की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक !
आप दीर्घायु हों !

प्रणामोपरान्त विनम्र निवेदन है कि मैं जनवरी १९३१ की दैनन्दिनी में उल्लिखित अपनी अवस्थाओं को आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरी दशा इन दिनों कवि के इस कथन की भाँति है : "एक पक्षी या बाज उसकी (ईश्वर) ऊँचाई के पास कैसे पहुँच सकता है ? यहाँ हमारा उड़ने वाला पक्षी बिना डैना पंखों के है।" तात्पर्य यह है कि दैवी विभूति (ईश्वरीय सत्ता) तो कोसों दूर मालूम पड़ती है और उसकी महानता एवं प्रताप की छाप हृदय पर अंकित है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सम्राट है और यह अकिंचन केवल एक साधारण भिक्षुक। जहीर फरियाबी का एक शेर, जो फ़ारस के बादशाह की प्रशंसा में लिखा गया था, मुझे याद आ रहा है। वह यद्यपि नितान्त अतिशयोक्ति है पर निश्चय ही मेरी दशा को प्रकट करता है :

"नौ आसमानों की मंजिलों को समझ (ज्ञानशक्ति) अपने पैरों तले रखती है जिससे वह कज़िल अरसल के रेकाबों को चूम सके।"

इस शेर में समझ (ज्ञानशक्ति) कम से कम रेकाबों तक पहुँच जाती है; पर इस अकिंचन की दशा ऐसी है और मस्तिष्क में इतनी अधिक दीनता एवं विनम्रता है कि वह स्थिति आ गयी है जिसमें "ढाल त्याग (फेंक) देना चाहिए" चस्पा होती हुई मालूम पड़ती है। वह केवल श्रद्धा सहित मौन रहने का स्थान मालूम पड़ता है। किसी का कथन है "कोई डगमगाहट न हो क्योंकि कचहरी राजसी है।"

एक पुरुष था जिसने अपने प्रेयसी को कभी देखा न था। वह उसके सौन्दर्य एवं मृदु व्यवहार के विषय में सुनकर ही उसे अत्यधिक प्यार करने लगा था। प्रेयसी के विषय में केवल इतना भर मालूम है कि वह इतनी अधिक दूरी पर है कि बुद्धि भी उसका अनुमान नहीं लगा सकती। केवल एक ही आशा रह गई है कि उसके दर्शन का आनन्द अवश्यम्भावी है, और इस दशा में प्यार से जकड़ा हुआ वह (प्रेमी) उसकी याद में बेचैन रहता है। उसकी परम प्रिय प्रेयसी उससे अत्यधिक दूर है। अत्यन्त सन्निकटता में केवल उसकी याद मात्र उसे उपलब्ध है। ऐसी ही दशा इस गरीब की है; और यह भक्त की दशा मालूम पड़ती है। मेरी साधारण दशा तो ठीक जल की सी है। नशे की बात तो दूर रही उसके बाद का भी असर शेष न रहा। जल में कम से कम हवा के कारण लहरें तो उठती हैं, पर यहाँ पर तो सांसारिक एवं सरकारी कर्तव्यों के करते समय कोई गति भी नहीं मालूम होती। वृत्तियाँ एवं इन्द्रियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में चुप बैठी रहती हैं और उनके उत्तम संयोजन

के कारण कसर्यो की पूर्ति हो जाती है। वृत्तियों एवं इन्द्रियों की दशा ऐसी है मानो किसी की मृत्यु हो गई हो। मुझे तो तनिक भी महसूस नहीं होता कि मैंने कभी **ईश्वरीय ज्ञान** की शिक्षा प्राप्त की हो। संक्षेप में, मैं तो बिल्कुल नगण्य बन गया हूँ। जो कुछ भी आनन्द था वह अब उनके साथ है।

१ और २ जनवरी, १८३१

दशा में अधिक बेचैनी बनी रही।

३ जनवरी, १८३१

बेचैनी अधिक घट गई। रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त और एक प्रिय मित्र मौजूद थे और सन्त ने मुझको एक हल्की प्राणाहुति दिया।

४ जनवरी, १८३१

दशा मनमोहक बनी रही; बेचैनी अधिक घटी।

६ जनवरी, १८३१

दोपहर को मस्तिष्क से हृदय पर एक तीव्र आनन्द उतरता हुआ मालूम हुआ। यह लगभग १५ मिनट तक रहा।

८ जनवरी, १८३१

मन में एक विचार आया कि एक भक्त **उसकी** ऊँचाई एवं स्थान तक न पहुँच सका।

१० और ११ जनवरी, १८३१

ऊपर जैसी अवस्था।

१२ जनवरी, १९३१

सन्ध्यासमय ऐसा लगा कि सभी दरवाजे और दीवारें आत्मा की विनम्रता एवं प्रताप के द्योतक हैं।

१४ जनवरी, १९३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक स्थान पर दो मुस्लिम नवयुवक मौजूद थे और मैं भी वहाँ था। उनमें से एक ने मुझे अत्यन्त सूक्ष्म एवं हल्की प्राणाहुति दिया। यह सोचकर कि अपरिचित लोगों से इस प्रकार के धोखे मैं नहीं ग्रहण कर सकता, मैंने अपने को गुरु महाराज में विलय कर दिया। उसने बताया कि वह नाजिर था (उसका मतलब कचहरी के नाजिर से नहीं था) और मुझे प्राणाहुति देरहा था। मैंने उत्तर दिया कि मुझे उसकी जानकारी थी।

१५ जनवरी, १९३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैं गुरु जी महाराज के घर पर मौजूद था और एक सन्त मेरी ओर मुखातिब थे। मेरी दशा एक गूँगे बहरे की-सी थी। उन्होंने कहा कि मैं बिल्कुल ठीक था और शारीरिक स्वास्थ्य में भी उन्नति करूँगा (मैं उस समय गैस की बीमारी का शिकार था)। उन्होने इस बात पर ध्यान करने को कहा कि गंगा, जिसमें सभी रंग हैं, बह रही है और उन रंगों में से वह रंग विशेष मुझमें प्रविष्ट कर रहा है जो उस मर्ज को दूर करने की दवा थी। उन्होंने यह भी कहा कि उसी ढंग से कोई अन्य व्यक्ति भी जो किसी बीमारी से पीड़ित हो, अच्छा हो सकता था। तुम्हें अपने चक्रों की सहायता से वह रंग जो उस रोग का निदान है उस केन्द्र (लतीफा) विशेष के द्वारा जो उस रंग का चक्र है, रोगी के शरीर में प्रविष्ट करना चाहिए।

उन्होंने कहा कि लोग सत्संग में अपने हुक्के के साथ बैठते हैं जो गुरु महाराज जी को अत्यधिक नापसन्द था। इस पर मैं जाग उठा। तत्पश्चात् मैंने फिर एक सन्त को एक स्वप्न में देखा। उन्हें देखकर प्रेम के वशीभूत, मैं जोर से रोने लगा था। उन्होंने भी मुझे प्राणाहुति दिया और मेरी प्रशंसा की। कदाचित् प्राणाहुति की रंगविहीनता उच्च विलयन की थी। उन्होंने यह भी कहा कि वे प्रिय भाई प्राणाहुति देते हैं फिर भी उसका उन्हें ज्ञान नहीं। आत्म विस्मरण अत्यधिक पूर्ण है (शब्द सही ढङ्ग से याद नहीं आते। मैं अन्दाज से लिख रहा हूँ)।

२५ जनवरी, १९३१

प्रातः लगभग ९ बजे एक हल्के आनन्द का अनुभव कई घण्टों तक होता रहा। दिन भर दशा तीव्र रही, एक गूँगे बहरे की भाँति। ऐसा लगता था कि आनन्द लबालब भर गया था। गाने की एक प्रेरणा हुई। मैं इस दोहे को गाने लगा :—

जब तक तन नाहीं गलत मन नाहीं मर जात।
वजहन सूरत शाम की सपनहु नाहीं दिखात॥

एक विचार मुझमें आया कि उस बारात पर, जिसमें मालिक दिल्ली में शरीक हुए थे आनन्द लगातार उतर रहा था और उस आनन्द का प्रभाव मुझमें भी आ रहा था। दिन भर हालत ऊपर जैसी ही थी। एक स्वप्न में एक सन्त को दुबारा देखा और उनसे इतना अधिक आनन्द प्राप्त किया कि अपने स्वप्न में मैं प्राणाहुति के प्रभाव में गिर-गिर पड़ता था। इस स्थिति में हर समय मैं ईश्वरीय धारा को मालिक से आती हुई और अपने हृदय में प्रवेश करती हुई महसूस किया करता था। इसके अतिरिक्त, जब कभी वे किसी को प्राणाहुति दिया करते थे तो मैं अपना भाग

अपने ही स्थान पर पाया करता था। यह उस समय सम्भव होता है जब लय अवस्था होती है।

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक श्रद्धेय सन्त मेरे साथ थे और उन्होंने मुझे प्राणाहुति दिया। इसके आगे मुझे कुछ याद नहीं।

श्रद्धेय गुरु महाराज जी का पत्र

दिनांक १२-२-१९३१

प्यारे भाई !

आपको आशीर्वाद। आपका पत्र मुझे मिला। मैं एक अन्य सन्त के साथ ओरई गया था। हम लोग कल लौटे। सभी दशाएँ जिनका आपने जिक्र किया है, आभार प्रदर्शन के योग्य हैं। यह शून्यता के विलयन का आशीर्वाद है, जिसके पश्चात्, ईश्वर ने चाहा तो नित्यता का आनन्द उस महान मन्दिर से दिया जाएगा। नित्यता तो उस क्रम एवं दशा के अनुरूप दी जाती है जो विलयन की स्थिति में छाई रहती है। आपके स्वप्नों के सम्बन्ध में क्या व्याख्याएँ लिखी जा सकती हैं ? मुख्य वस्तु तो उद्देश्य है। संकेत यथेष्ट समझे गए हैं। विस्तार में न जाने से समय की बचत हो गई है। शेष कुशल है। ईश्वर ने चाहा तो मैं १५ से १७ फरवरी तक मैनपुरी में मौजूद रहूँगा। वहाँ से एटा जाऊँगा जहाँ २० से २२ तक वार्षिकोत्सव होने वाला है। सबको आदर सत्कार एवं आशीर्वाद।

रामचन्द्र
फतेहगढ़ से।

फरवरी १९३१ की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक !

आप दीर्घजीवी हों !

प्रणामोपरान्त नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना है कि मैं गत माह की अपनी दैनन्दिनी में उल्लिखित अवस्थाओं को लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। हालत ऐसी है कि उसे जबानी अथवा लिखकर जाहिर करना असम्भव है। फिर भी, जो कुछ भी अपनी बुद्धि द्वारा मैं समझ सका हूँ आपके सम्मुख रख रखा हूँ। यह कदाचित् सही होगा यदि मैं अपनी दशा को "कुछ भी नहीं" का नाम दूँ। अब दशा लगभग वैसी ही है जैसी आरम्भ करने के समय थी। इसका अर्थ यह मालूम पड़ता है कि मैं भ्रमणोपरान्त उसी बिन्दु पर आ गया हूँ जहाँ से मैं चला था। हालत कुछ मायूस रहती है यद्यपि मैं उसकी शिकायत नहीं करता। अनुत्साह विचार में इतनी गहराई और मजबूती के साथ घर कर गया है कि उसने मुझे अपनी आन्तरिक शक्ति एवं दशा को एकदम भुलवा सा दिया है। जो चीजें भौतिक रूप से महसूस होती थीं अब आन्तरिक दृष्टि से ओझल हो गई हैं; ऐसी दशा उत्पन्न हो गई है मानो किसी शाप वश कोई स्वयं अपनी शक्तियों को भूल जाता है। एक समय ऐसी अवस्था थी कि मुझमें "मेरी आज्ञा से उठ जाओ" कहने का साहस था। मेरी दशा अब ऐसी है कि मैं "ईश्वर की आज्ञा से उठ जाओ" भी कहने से भय खाता हूँ। प्रत्येक वस्तु मालिक के अधीन है और उसी की इच्छा से

शसित है। मैं अपने को एक पापी समझता हूँ, ईश्वर से दूर हटाया हुआ, निराश्रय। मैंने दूसरे संसार के लिये तोशा (सम्पत्ति) नहीं एकत्रित किया है और न तो मैं परमार्थ करने के लिए कोई परिश्रम कर सकता हूँ। बार-बार इस प्रकार सोचने से मुझे अकसर अपनी दशा पर रोने का मन करता है। मैं जीवन में मृत्यु के आनन्दों का अनुभव करता हूँ और एकदम अक्ल से खाली हो गया हूँ। तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में एक दोहा लिखा है जो मेरी दशा को सच्चे रूप में दर्शाता है :

बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना।
कर बिन करम करहि विधि नाना॥

आन्तरिक दशा एक विचित्र अविश्वास एवं दशारहितता की है। निम्न विचार या भाव जो उठते हैं आत्मा (Self) में कोई परिवर्तन नहीं लाते और न तो उसमें कोई अदल-बदल या परिवर्तन महसूस होता है। विचार की स्थिति ऐसी है कि मानो कूड़ा-करकट एवं घासपात गंगा के जल में बह रहें हैं, पर जल की अत्यन्त पवित्रता के कारण उसे दूषित करने में असफल हैं। जो अन्दर है वही ब्रह्माण्ड के हर कण में तथा सारे आकाश में मिलता है। वाह्य दशाओं को देखने से आन्तरिक दशा मालूम हो जाती है। अब मुझे लगता है कि आपकी अनुकम्पा से "बुलबुले की आँखों ने जल के चेहरे को देख लिया है!"

१ फरवरी, १९३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि गुरु जी महाराज ने मुझे प्राणाहुति

दिया, और मैं प्रेमवश रो रहा था। उन्होंने कहा कि मैं बिल्कुल सहन न कर सका। स्वप्न में किसी ने गुरु महाराज को बताया कि मैं प्रतिदिन मक्खन खाया करता था। स्वप्न का अधिकांश भूल गया। सम्पूर्ण रात्रि में ध्यान की अवस्था बनी रही।

७ फरवरी, १८३१

स्वप्न देखा कि मैं आपके साथ गुरु महाराज के निवास स्थान पर था। गुरु महाराज ने मुझे प्राणाहुति दिया और घर के अन्दर चले गये। उन्होंने मुझे निर्देश दिया कि जो कोई आये वह बैठ जाय और इन्तजार करे। शीघ्र ही एक सुन्दर एवं स्वस्थ व्यक्ति आया। मैंने उसे प्राणाहुति दिया। बस इतना ही मुझे याद है।

१० फरवरी, १८३१

रात्रि में अनेक स्वप्न देखे पर वे स्मरण नहीं। केवल इतना ही स्मरण है कि किसी ने मुझसे कहा कि मेरी तुरीया अवस्था आरम्भ हो गई है।

१३ फरवरी, १८३१

लखनऊ जाते समय लगलभ साढ़े सात बजे प्रातः रेलगाड़ी में मुझे ऐसा लगा कि प्रतिबिम्बित प्रभाव किसी ऊँचे बिन्दु पर पहुँच गया था पर उस समय तक दशा का प्राकट्य नहीं हुआ था। यदि सत्सङ्ग हो सकता तो उससे शीघ्र ही उसका ज्ञान हो गया होता। २ बजे अपराह्न लखनऊ में दशा में कुछ भूलापन महसूस हुआ।

१४ फरवरी, १८३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त मुझे प्राणाहुति दे रहे थे।

कुछ देर तक प्राणाहुति देने के उपरान्त उन्होंने कहा कि प्रेमवश उन्होंने प्राणाहुति अधिक दे दिया था पर सौभाग्यवश उन्होंने उसे देख लिया था अन्यथा मेरी मृत्यु हो गई होती। दिन की दशा में भूलापन अपरिवर्तित बना रहा।

१८ फरवरी, १९३१

दोपहर में सोते समय स्वप्न में देखा कि मैं किसी मकान में था। एक आदमी आया और हमारे एक मित्र को, जो कचहरी में नौकर थे, बुलाना आरम्भ किया। मैंने उससे पूछा कि वह क्या करेगा। उसने उत्तर दिया कि वह हजरत बकी बिल्लाह से अत्यधिक आनन्द प्राप्त करने के बाद आया था और वह हमसे बातें नहीं करेगा। मेरे हृदय के भीतर से एक आवाज ने मुझे बताया कि वह मुझसे झूठ बोल रहा था क्योंकि हजरत बकी बिल्लाह मुझे प्राणाहुति दे रहे थे। इतना अधिक आनन्द उतरा कि मैं चारपाई के ऊपर लगभग १ हाथ ऊँचा उठा दिया गया था। इसके बाद मैं जाग पड़ा।

उसी रात स्वप्न देखा कि एक सन्त मुझे तथा कुछ अन्य सहयोगी शिष्यों को प्राणाहुति दे रहे थे।

२० फरवरी, १९३१

स्वप्न देखा कि मैं कचहरी में था और मेरी अवस्था इतनी अधिक डूबी हुई थी कि मुझे अपने भौतिक अस्तित्व का ज्ञान न रहा।

२१ फरवरी, १९३१

४ से ६ बजे सन्ध्यासमय अधिक लवलीनता मालूम हुई और मैंने मस्तिष्क से आनन्द उतरता हुआ अनुभव किया।

फतेहगढ़ के श्रद्धेय महात्मा रामचन्द्र जी का पत्र

दिनांक १० मार्च १९३१

प्यारे भाई !

ईश्वर आपके जीवन की अवधि बढ़ाए ! ईश्वर को धन्यवाद है कि आपका पत्र सुख-सन्देश लाया। आपके पूर्व के पत्रों का उत्तर इस आशय से रोक लिया गया कि बाद में जाएगा। एक अन्य वस्तु जो ध्यान देने योग्य थी, वह यह कि आपके पत्र के प्रत्येक वाक्य के अन्त में एक अंश ऐसा था जो स्वयमेव उत्तर के लिये यथेष्ट था। वही बात आपके अन्तिम पत्र में भी अंकित है। ऐसे पत्रों का, जो स्वयमेव उत्तर स्वरूप हैं, उत्तर देना कठिन है।

आरम्भ करने से पूर्व जो दशा विराजमान थी वह अब भी उसी प्रकार महसूस होती है। यही "वह प्रथम है, वह अन्तिम है" का अद्भुत तथ्य है। आत्मा जिस स्थान से चली थी वहीं पुनः लौट आई है। इसे यदि विशद रूप से वर्णन करना हो तो एक वृहत् ग्रन्थ हो जायेगा। और फिर श्रद्धा की भावना भी मुझे रोकती है क्योंकि यह एक दैवी रहस्य है। मानव शरीर में आत्मा के प्रवेश होने के साथ ही सभी गुण एवं विशेषताएँ, बुद्धि एवं समझने की शक्तियाँ, अपनी उच्चतम पूर्णता के साथ निहित थीं। सृष्टि की उत्पत्ति में भावनाएँ उठीं। आत्मा का ध्यान एवं मोड़ स्थूलता की ओर बढ़ता गया, सन्तुलन न रह गया। निहित दशाओं में जब तक सभी भावनाएँ मर न गई, समभाव बना रहा।

शिक्षकगण अब फिर से मृतप्राय भावुक दशाओं को प्राणाहुति एवं आनन्द की सहायता से क्रियाशील करते हैं। यह इस सीमा तक किया जाता है कि हमारी संस्था की शिक्षण पद्धति में वे इसे जज़्ब से प्रारम्भ करते हैं, और जज़्ब (गम्भीर आध्यात्मिक नशा) के सभी पहलुओं को पूरा करने के पश्चात् वे शिष्य को सुलूक (आध्यात्मिकत! का मार्ग) की ओर लौटा लाते हैं। तब वे सुलूक की सभी अवस्थाओं को पूरा कराते हैं। केवल यही अन्तिम सुलूक है। समभाव की वही दशा जो मानव हृदयों एवं आत्माओं में आरम्भ में छाई हुई थी, अब फिर आती है। बीच की दशाएँ और स्तर लहरें हैं। उनसे यह नहीं जाना जा सकता है कि शान्ति क्या है और वह कहाँ रहती है। अब, वास्तविकता में मनुष्य, मनुष्य के रूप में है जबकि इससे पूर्व वह मनुष्य के रूप में पशु था। वास्तविकता लहरों में कब पाई जाती है ? यहाँ आरम्भ एवं फुँच का कोई प्रश्न नहीं । जो है सो है । कमजोरी, वासनाएँ एवं भावनाएँ केवल अपूर्णता में हैं। पूर्णता में लहरों एवं वासनाओं का नामोनिशान नहीं। जब सभी गुण सम हो जाते हैं तो शान्ति विराजती है। यह दशा इच्छाओं के बावजूद भी इच्छारहितता की है। ऐसी दशा या तो हृदय के थक जाने पर छाई रहती है अथवा उस हृदय की होती है जिसमें सम्वेदना एवं सन्तोष हो। कोई कार्य करते समय हृदय अन्त में एकसुरा (Monotonous) हो जाता है अर्थात् वह उप्रम के अधीन हो जाता है । यदि वह वास्तविकता के लिए है तो अति उत्तम। यदि वह

सांसारिक है तो भी उत्साहवर्धक है, क्योंकि इसके पश्चात् पुनः एक बार ऊपर उठने का काल आरम्भ होता है। ईश्वरीय मार्ग पर चलने वाले यात्रियों का यही अभ्यास है।

"मेरी आज्ञा से उठ जाओ"—यह एक मध्यम स्थिति है जो श्रद्धाभाव के प्रतिकूल है क्योंकि जिज्ञासु के लिये यह अशोभनीय है कि वह एक भिक्षु को सन्त का नाम दे और यह वास्तविकता का भी विरोधाभास है। कुछ भी हो "ईश्वर की आज्ञा से उठ जाओ" की दशा उचित एवं सही दशा का द्योतक है। एक जिज्ञासु के लिये सन्तोष एवं अत्यधिक दैवी श्रद्धा रखना आनन्ददायक है जो कि "मेरी आज्ञा से उठ जाओ" का बाद-का-परिणाम एवं प्रभाव है। पर पिछली दशा के अन्तर्गत श्रद्धा है और वह "ईश्वर की समीपता" की खुशखबरी देता है। ईश्वर की समीपता एवं संगति में सालिक (जो मार्ग में स्थापित है और उस पर काफी दूर तक आगे बढ़ गया है) को ईश्वर के तेज पुंज की प्राप्ति होती है। ईश्वर के तेज पुंज एवं ईश्वर के गुणों में जमीन आसमान का अन्तर है। हनुमान जी की विनम्रता के गुणों की याद आने पर क्या किसी को प्रसन्न नहीं होना चाहिये ? जब कभी कोई उन्हें उनकी शक्ति का स्मरण दिलाता तो उन्हें अपनी शक्ति स्मरण हो आती थी। हमारा उद्देश्य आम खाना है या उसके पेड़ एवं पत्तों को गिनना है ? क्या यह एक बड़ी उपलब्धि नहीं है कि एक सालिक अनुत्साह के विचारों के बावजूद भी कोई कार्य करने में समर्थ

होता है जिसे अनेकों गर्वीले लोग कभी कर नहीं सकते ? एक स्वामी के क्रोध एवं अप्रसन्नता की क्या स्थिति होगी जब कि उसका एक सेवक उसकी मौजूदगी और पीठ पीछे भी अपनी शक्ति का बखान करता है ? यह संभव है कि वह अपने गर्व तथा अपहरणकार्य के कारण नौकरी से निकाल दिया जाय। किन्तु एक अन्य सेवक अपनी चिरसामीप्यता एवं निजी निकटता तथा अपनी सेवाओं के कारण अपने स्वामी पर इतना अधिक प्रभाव रख सकता है कि सभी शक्तियाँ स्वामी उसे दे दे और यदि वह सेवक उन शक्तियों का ऐसे ढंग से प्रयोग करता है कि प्रत्येक कार्य में वह अपने स्वामी का नाम जोड़ लेता है तो मैं समझता हूँ कि स्वामी के हृदय में किसी प्रकार का सन्देह या अविश्वास उठने का कोई अवसर नहीं आयेगा और वह कभी यह महसूस नहीं करेगा कि उसका स्वामित्व खतरे में है। अतः वह अपने सेवक की शक्तियों को छीनकर उसे नौकरी से कभी नहीं अलग करेगा।

अपने आपको एक पापी और एक लहर के अधीन समझना मानव शराफत की उच्चता है। यह तो ईश्वर की एक विशेष देन एवं कृपा है। आपने लिखा है कि आप अपनी हालत के कारण बहुधा रोते हैं। यह खेद का विषय है कि कोई घी और हलुआ खिलाये जाने पर रोता हो और सूखा चना चबाने पर खुश होता हो। यही हालत 'बीज दग्ध' के नाम से जानी जाती है और इसके कारण दासता से मुक्ति

मिलती है। ऐसी दशा में रोना मूर्खता एवं ज्ञान की कमी के कारण है। इस देन के लिये भला कोई कैसे ईश्वर को धन्यवाद दे सकता है? इसलिए इस सन्देह व मूर्खता को दूर कीजिये अन्यथा ईश्वर की देनों के प्रति यह अकृतज्ञता होगी। फिर आप स्वयं लिखते हैं कि आप जीवन में मृत्यु का आनन्द पाते हैं। इस परस्पर विरोधी लेखन का तात्पर्य क्या है? दशाहीनता आत्मा के चहारदीवारियों पर पहुँचने का लक्षण है। दशाहीनता की ये दशाएँ एक रूप हैं। परम कृपालु ईश्वर यह दशा भी पैदा करेगा। ७ फरवरी का स्वप्न कदाचित् हुक्के से सम्बन्धित है। इससे अधिक कुछ भी नहीं। १३ फरवरी का स्वप्न तो नितान्त स्पष्ट है, और किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। शेष सभी स्वप्न साधारण तथा सादे हैं, किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

बच्चों को दुआएँ और सबको प्रणाम। सभी पत्र भेज दिये गये हैं। उन लोगों के लिये जिनका पता मुझे नहीं मालूम, पत्र लिख दिये गये हैं और रखे हुये हैं। दुआएँ।

रामचन्द्र
(फतेहगढ़ से)

मार्च १९३१ की दैनन्दिनी के साथ प्रिसेप्टर को पत्र

आदरणीय भाई!

उचित प्रणामोपरान्त मुझे निवेदन करना है कि आपकी महती कृपा से दशा और दशारहितता

का विचार एवं विवेक नहीं रह गया है। अब दशा का अर्थ केवल इस प्रकार लगाया जा सकता है कि कि जो है सो है। मैं न तो अक्लमन्द हूँ और न पागल। न अलगाव है और न मेल। न तो सम्बन्ध है और न पृथक्करण। न एकान्तवास है और न भीड़। "कुछ भी छिपा नहीं और कुछ भी प्रकट नही" की दशा अब है। सीमा और सीमारहितता का विचार हृदय से गायब हो गया है। समय का ज्ञान तथा समय का विस्तार काल्पनिक था। वह समझ में नहीं आता। भूत, वर्तमान एवं भविष्य एकरूप मालूम होते हैं। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मेरी क्रियाओं का क्षेत्र अथवा समागम का स्थान उस बिन्दु पर है जो समय एवं आकाश के बन्धनों से मुक्त है। वास्तव में जब क्षण भर के लिये उस बिन्दु की एक झलक मिल जाती है तो उससे उत्पन्न दशा (जिसे जबानी अथवा लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता) समासम (संतुलित) और बन्धन-मुक्त मालूम पड़ती है। धैर्य एवं सन्तोष निश्चय ही महसूस होते हैं और विनय-शीलता एवं समर्पण की दशा अत्यधिक तीव्र।

मैं प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का सेवक समझता हूँ। यदि कोई अमीर है अथवा ओहदेदार है तो उस कारण मेरा हृदय उसे कोई विशेष महत्व नहीं देता। राजा, रंक और फकीर, इन तीनों का स्तर हमें एक सा लगता है। यदि कोई गवर्नर है तो उस कारण मेरा हृदय उनकी ओर नहीं झुकता। यह स्थिति गत माह से आ गई है। मेरा हृदय मुझे यह बोध कराता

है कि यही मेरी आध्यात्मिकता का आरम्भ है। दिल्ली अब भी बहुत दूर है (दिल्ली दूरस्त)।

१ मार्च, १८३१

प्रातःकाल, अलीगढ़ में, जब मैं पूजा से निवृत्त हुआ तो मुझ लगा कि मेरे मस्तिष्क के किसी ऊँचे बिन्दु से एक सूक्ष्म धारा बह रही थी। जब मैंने इस पर चिन्तन किया तो मुझे पता लगा कि अलीगढ़ में कोई सन्यासी था जिसे प्राणाहुति अपने आप मिल रही थी। विचार द्वारा खोज करने पर पता लगा कि आलम कबीर (ब्रह्माण्ड) की गहराइयों में, जिसे मैं पहले ही पार कर चुका था, वह खो गया था। उसके प्रेम को सच्चा पाकर मैं प्रसन्न था।

३ मार्च, १८३१

रात्रि में मैंने एक स्वप्न में गुरुजी महाराज और एक दूसरे सन्त को देखा। स्वप्न मैं भूल गया। परन्तु मेरी दशा में इतना तो प्रतिबिम्बित है कि उन दोनों ने मुझे प्राणाहुति दिया।

५ मार्च, १८३१

अपराह्न में ऐसा लगा कि मैंने समय का ज्ञान एवं समासम की दशा खो दिया था। मैंने अपने आपको सीमा और सीमा-रहितता के परे महसूस किया।

१० मार्च, १८३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि कुछ फकीर किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित थे। सबके दाढ़ियाँ थीं। मैं भी वहाँ बैठा था। मेरी दाहिनी ओर एक सज्जन बैठे वे। किसी ने कहा कि वे

राजा जनक थे। सामने एक छोटा मन्दिर था जिसमें एक सफ़ेद गेंद रखा हुआ था। किसी ने उसके दो टुकड़े कर दिये। उसके अन्दर से कुछ फकीर निकले। किसी ने कहा कि इसी ढंग से सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी।

२४ मार्च, १९३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि मैंने अपने घर में और अधिक न रहने का निश्चय कर लिया था और किसी एकान्त कोने में ईश्वर की याद में अपने को लगाना चाहता था। घर के बाहर निकलकर मैं एक जगह बैठ गया और ध्यान करने लगा। समाधि एवं लय की अवस्था आ गई। जब कभी मैं गिरने को होता तो कोई मुझे पकड़ लेता था। ध्यानोपरान्त एक विचार आया कि यह तो घर पर भी सम्भव था। कोई क्यों फिर अपना घर छोड़े? तब मैं जाग गया।

विचारकों ने **समाधि** पर बल दिया है और उनमें से कुछ ने तो उसे सभी क्रियाओं का ध्येय कहा है। वे सच्चे अर्थ को न समझ सके थे। यदि हम "सच्चा" शब्द का उच्चारण करते हैं तो उच्चारण सरल होता है। यदि हम **समाधि** शब्द का प्रयोग करते हैं तो "धि" पर जोर पड़ता है। इसका अर्थ हुआ कि उस शब्द में ही असमानता है। प्रकृति में असमानता नहीं मिलती। तैरना और डुबकी लगाना भिन्न विषय हैं। नदी में तो तैरना हम जानते हैं पर हमें पहले सूखी जमीन पर तैरना सीखना होगा, फिर डुबकी लगाना। मान लीजिए कि हम समाधि की अवस्था में जल में डुबकी लगाना चाहते हैं पर "धि" की असमानता हमें पूरी डुबकी लगाने न देगी। मैं अपने ही ढंग से समाधि का अर्थ देता हूँ; मै "सम+अधि" कह सकता हूँ। 'सम' का अर्थ है समभाव की दशा; 'अधि' का अर्थ है जो कुछ आरम्भ में था। इसका अर्थ हुआ कि वह अवस्था जो आरम्भ में थी अर्थात्

जब हम यहाँ प्रथम बार आए। अब इसका प्रयोग करने के लिए हमें 'अधि' शब्द को 'सम' के साथ नत्थी कर देना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि हमने इस भाज्य को भी अपनी पहुँच के लिए लाभदायक बना लिया है। इस प्रकार 'अधि' सम अवस्था तक जाने के लिए साधन बन जाता है। अब मैं स्वयं अपना अनुभव लिख रहा हूँ। "यह वह अवस्था है जहाँ मनुष्य सुप्त अवस्था में जागृति अनुभव करता है।" वह सुप्तावस्था पर्दे के पीछे रहती है और कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। दूसरे शब्दों में, यह ज्ञानहीन अवस्था में ज्ञान है। इस दशा वाला मनुष्य ईश्वर के क्षेत्र में तथा स्वयं अपने क्षेत्र—संसार—में सर्वोत्तम कार्य कर सकता है। यह दशा जिसके लिए हमारी राय में फरिश्ते तरसते रहते हैं मनुष्य के ही हिस्से में आती है। उसके ऊपर क्या है, इसका बोध केवल 'चुप' शब्द से ही हो सकता है और फिर उसके बाद भी कुछ होता है जिसके लिए यदि मैं "चुप" शब्द का प्रयोग करूँ तो वह "असली तत्त्व" के लिये निन्दास्वरूप होगा।

भूख में मरना सन्तपन नहीं है।

अप्रैल सन् १९३१ की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक !
आप दीर्घजीवी हों !

प्रणामोपरान्त मैं अप्रैल सन् १९३१ की दैनन्दिनी में अंकित अवस्थाओं को अंकित कर रहा हूँ। वर्षा ऋतु में हवा का रुक जाना वर्षा होने का एक संकेत है। वास्तव में हवा का बहना नहीं रुकता पर उसकी मन्द गति ही बिल्कुल रुक जाना समझ लिया जाता है, और वह ईश्वर की सृष्टि के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। प्रत्येक वस्तु हरी और ताजी हो जाती है और तीनों

तत्व उससे जीवन प्राप्त करते हैं। अत: हवा का बन्द होना (जैसा लोग उसे कहते हैं) जीवन का एक सहायक है। बिल्कुल ऐसी ही अवस्था दीर्घकाल तक इस अकिंचन भक्त पर छाई रही। उसके बाद आनन्द की घनघोर वर्षा आरम्भ हुई जो हर क्षण जारी है। शरीर का प्रत्येक कण उससे ताजगी पाता है। फुर्सत के क्षणों में जब मैं पूर्णत: ध्यान में होता हूँ तो आनन्द के उतार को इतना अधिक तीव्र महसूस करता हूँ कि वह लय अवस्था की ओर ले जाता है। अन्यथा मैं हर क्षण एक मन्द आनन्द की दशा महसूस करता हूँ जो मुझे आश्चर्यजनक ताजगी देता है। हृदय ने आनन्द रहित हो जाने के पश्चात् उस दशा के आनन्द को महसूस किया है। यह मेरी समझ में उस नशा का श्रीगणेश है जिसे बुज़ुर्गों ने 'नित्यानन्द' का नाम दिया है। मुझे ऐसा लगता है कि परमात्मा के साथ मानो एक कड़ी जुड़ गई है और शरीर के पर्त इतने अधिक साफ हो गए हैं कि उसमें परमात्मा की चमक दिखलाई पड़ने लगती है।

कुछ समय तक यह दशा बनी रही कि जो कार्य मेरे द्वारा होते थे वे सब मुझे ईश्वर की ओर से जान पड़ते थे। धीरे-धीरे यह अब इतना स्वाभाविक हो गया है कि यह नहीं जान पड़ता कि कौन कार्यों का करने वाला है अथवा वे किसके यहाँ से आते हैं। उदाहरण के रूप में यह एक सोते हुए पुरुष की भाँति है जो अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विस्तर में अपने आप करवटें बदलता रहता है। अथवा, नींद

में एक मनुष्य जब अपने शरीर में खुजलाहट महसूस करता है तो अपने आप अनजाने खुजलाने लगता है। जागने पर यदि उससे पूछा जाय कि नींद में उसने कितनी करवटें बदलीं तो वह उत्तर न दे सकेगा। जहाँ तक मेरी अन्तर्दृष्टि जाती है सहस्रों इच्छाओं के बावजूद भी इच्छा एवं वासना का अन्त दिखाई सा देता है। और हालत ऐसी होती जा रही है कि मानो सभी रंगों को मिला देने से वे अपने गुण खो देते हैं। लाल, हरा, पीला सब गायब हो जाते हैं। अतः मैं (अपनी) वर्तमान दशा को साधारण दशा कहता हूँ। उसमें अब कोई भाग-दौड़ नहीं है। प्रेम में विस्मृतिता ने जड़ कर लिया है और सैकड़ों मील दूर जाने पर वह आँखों से ओझल हो गई है। वह अपने आप में इतनी स्वतन्त्र हो गई है कि विचार की जंजीर उसे कैद करने में असफल हो जाती है।

३ अप्रैल, १९३१

रात्रि का स्वप्न भूल गया। केवल इतना भर स्मरण है कि गुरु जी महाराज ने मुझे प्राणाहुति दिया।

११ अप्रैल, १९३१

रात्रि के स्वप्न में मैंने आपसे तथा दूसरे सन्त से आनन्द प्राप्त किया।

१२ अप्रैल, १९३१

रात्रि में दशा बहुत अच्छी रही। ऐसा लगा कि मुझे आनन्द दिया जा रहा है।

१५ अप्रैल, १८३१

सन्ध्या को ५ बजे के बाद ऐसा लगा कि मैं प्रेम भूल गया।

१६ और १७ अप्रैल, १८३१

दशा अपरिवर्तित।

१८ अप्रैल, १८३१

सन्ध्यासमय आपके निवास स्थान पर जब मैं एक सन्त के प्राणाहुति के प्रभाव में बैठा हुआ था तो अपने महसूस किये हुए भाव के प्रति घृणा का अनुभव होता रहा।

२० अप्रैल, १८३१

भाव के प्रति घृणा बनी रही। स्वप्न में मैं अकस्मात् एक घर में पहुँच गया और एक सीढ़ी के द्वारा ऊपर की मंजिल में प्रविष्ट हुआ। सीढ़ी के ऊपर का रास्ता कुछ छिपा हुआ था। एक आदमी मुझे ऊपर ले गया और उसने कहा कि मैं **मालिक** की तरह होता जा रहा था। तब मैं अपनी बहन के घर पहुँचा। इसके बाद मुझे स्मरण नहीं। जागने पर हृदय से एक आवाज निकली कि मैं **मालिक** की भाँति बनता जा रहा था।

२१ अप्रैल, १८३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि आप और एक मुस्लिम सन्त मेरे घर पर मौजूद थे। आपने मुझे उन सन्त के साथ ध्यान में बैठने का इशारा किया। अतः ध्यान आरम्भ हुआ। कुछ समय पश्चात् मैं सन्त के लिए भोजन लाया और उसमें से मैंने भी उनके साथ खाया। मेरी माँ यह देख रही थी। मैंने खाने से अपना हाथ

खींच लिया जिससे कि वह यह न समझ लें कि मैं परधर्मी बन गया था।

२३ अप्रैल, १९३१

९ बजे रात्रि जब मैं आपके यहाँ से लौट रहा था तो मार्ग में एक विचार आया कि जो मनुष्य अकृतज्ञ हो वह आध्यात्मिक ज्ञान के योग्य नहीं। यदि ऐसा मनुष्य आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया जाना चाहता हो तो उसे अकृतज्ञ होने की आदत छोड़ देनी चाहिए।

२६ अप्रैल, १९३१

रात्रि में एक स्वप्न देखा जिसका अधिकांश मैं भूल गया। इतना भर स्मरण है कि मैं एक भाई के साथ फतेहगढ़ गया। वहाँ गुरु जी महाराज ने मुझे प्राणाहुति दिया। उठने के समय मेरी बड़ी बहन मेरे साथ थी। मैंने उसे घर भेज दिया और जलालाबाद में ठहरा रहा। वहाँ आपने प्राणाहुति दिया। तब मैं किसी अन्य स्थान को चला गया। वहाँ एक दूसरे सन्त ने मुझे प्राणाहुति दिया।

मई १९३१ की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के श्रद्धेय मालिक !

आप दीर्घजीवी हों !

प्रणामोपरान्त मुझे निवेदन करना है कि मैं मई महीने की अपनी दैनन्दिनी प्रस्तुत कर रहा हूँ। इन दिनों दशा ऐसी हो रही है कि उसे बयान करना असम्भव सा है और यदि यह दशा बनी रही तो मुझे भय है कि मैं कदाचित् भविष्य में इसका वर्णन न कर

सकूँगा। मैं प्रत्येक दिन गेहूँ का आटा खाता हूँ पर उसका स्वाद केवल अनुभव से सम्बन्ध रखता है। यह अनुभव हर प्रकार से बयान के बाहर है। केवल यही कहा जा सकता है कि उसका स्वाद मधुर है। पर ऐसा कहने से स्वाद (ठीक) नहीं व्यक्त होता है। मेरी दशा के साथ भी वही बात है। मन न तो दशाहीनता की ओर जाता है और न ही किसी रंगीन दशा की अनुभूति ही होती है। तिस पर भी बाहरी प्रभाव, जिन्हें मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया है, शान्त जल पर कुहरे अथवा धुएँ के रूप में महसूस होते हैं। परन्तु छाई हुई शान्त दशा (जिसे मैं व्यक्तविहीनता का प्रभाव समझता हूँ,) में वे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करते। मैं अत्यधिक शान्ति में अत्यधिक बेचैनी के एक दृश्य का आनन्द ले रहा हूँ। बेचैनी की कोई सीमा नहीं। यदि उस पर अधिक गौर किया जाय तो दशा का वर्णन कदाचित् पानी के बाहर की एक मछली के समान हो सकता है। आत्मविस्मृतता की दशा एक तपेदिक अथवा एक पुराने रोगी की भाँति है जो अपने शरीर के किसी अंग में शक्ति का अनुभव नहीं करता और जिसकी क्रियाएँ समाप्ति पर आ चुकी हैं। साधना और उपासना का करना भी पूजा या अभ्यास नहीं वरन् केवल दैनिक कार्यक्रम मालूम पड़ता है। ध्यान के मध्य समाधि और लयता दोनों आती हैं परन्तु उनसे मुझे कोई आनन्द नहीं मिलता। वही हालत खाने पीने तथा अन्य कार्यों के साथ है। मस्तिष्क बहुत कुछ अन्यमनस्क हो गया है। ईश्वर की याद का विचार केवल भाव-मात्र अथवा एक

धुँधली परछाईं की भाँति रह गया है। यह वर्षा ऋतु में कमरे के भीतर लटकते हुए एक कपड़े के टुकड़े की भाँति है जो कुछ भीगा सा हो जाता है और जिसमें से एक हल्की गीलेपन की गन्ध आती है। मैं अपनी वर्तमान दशा को एक दैवी रहस्य की दशा की भाँति महसूस करता हूँ। यदि यह दशा किसी अजनबी को बताई जाय तो वह कभी भी विश्वास नहीं करेगा, और यदि वह इसका विश्वास करता है तो पथभ्रष्ट हो जाएगा। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कबीर दास जी ने अपने होनहार शिष्य धर्मदास जी को निम्नांकित शब्दों में चेतावनी दिया था :—

धर्मदास तोहे लाख दुहाई।
सार भेद बाहर नहीं जाई॥

मन दीनता का प्रेमी बन गया है। मैं बड़ा प्रसन्न होता हूँ जब कोई मुझे नीची निगाह से देखता है; और मैं अधिकतर नीची निगाह से देखा जाता हूँ। एक अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक बात मेरे साथ होती है; और वह यह है कि जब मैं निद्रालु होता हूँ या ध्यान में डूब जाता हूँ तो अन्दर से कोई शक्ति मुझसे संसार के सम्बन्ध में निरर्थक बातें करती रहती है। बहुधा यह वस्तुएँ सच भी निकली हैं। उदाहरण के रूप में "उसे ८१ करोड़ रुपये दे दो"; "मैं तुम्हें पढ़ाना शुरू कर दूँगा जब तुम मुझे १० रुपये दोगे", "चबूतरे पर (जो मेरे घर के पीछे है और जहाँ साधु लोग रहते हैं) निकम्मे लोग बेकार लड़ा करते

हैं" ; और इसी प्रकार की बहुत-सी बातें जो मुझे याद नहीं। ऊपर के कुछ उदाहरण आपको सूचित करने के निमित्त मैंने याद कर लिए हैं। कभी-कभी उसमें अधिकता हो जाती है और कभी समभाव। इन सब बातों के बावजूद एक ऐसी चीज हो रही है कि उसका जिक्र न करना बहुत ही हानिकारक है। अतः इस अभद्रता के लिए आपके सम्मुख हाथ जोड़कर नम्र निवेदन करता हूँ कि गत दो सप्ताह से वासनाओं ने मुझे इतना जकड़ लिया है कि अधिकतर समय मेरा विचार उन्हीं में रहता है और दशा पशुवत् हो गई है। इतने अधिक समय तक विचार उनमें कभी नहीं संलग्न होता था। इसके कारण ऐसा दर्द है मानों किसी के लिये काँटे बिछा दिये गये हों और उसे उन-पर जबरदस्ती चलाया जाता हो। यदि यही हालत मुझमें बनी रही तो मैं नहीं जानता कि दुराचारिता के किस गर्त में मैं गिर जाऊँगा ? हृदय क्षेत्र में एक प्रकार का कुहरा मालूम पड़ता है जो प्रार्थना के द्वारा साफ हो जाता है परन्तु पुनः लौट आता है। नाभि में एक चेतना महसूस होती है। मैं नहीं जानता कि विषय-सुख का कोई बिन्दु प्रज्वलित हो उठा है, अथवा, मेरे अतीत के बुरे कर्मों ने मुझे जकड़ लिया है।

३ मई, १८३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त बीमार थे और एक धर्मात्मा मेरे साथ बैठे थे। मैंने उनसे कहा कि मैं बीमार सन्त के विषय में अत्यधिक चिन्तित था। उन्होंने बताया कि यही कारण था कि सन्त की दशा मुझमें उतर गई है।

११ मई, १८३१

मैं लगभग ३ बजे रात्रि में आपकी प्राणाहुति के प्रभाव में तिलहर में बैठा हुआ था। ध्यान के मध्य एक व्यक्ति ने मुझसे कुशलक्षेम पूछा। मेरे हृदय ने कहा "ख्वाजा बिल कासिम नुरुल खुदा"।

१२ से १४ मई, १८३१

ज्ञानशून्य दशा छाई रही।

१७ मई, १८३१

स्वप्न में एक सन्त को देखा। उन्होंने मुझे प्राणाहुति दिया और एक कागज के टुकड़े पर कुछ लिखे हुए की व्याख्या किया। अभाग्यवश मैं उसे भूल गया हूँ।

१८ मई, १८३१

आपको एक स्वप्न में देखा और आनन्द प्राप्त किया।

२४ मई, १८३१

आपको तथा एक सन्त को एक स्वप्न में देखा। स्वप्न याद नहीं है।

२५ से ३१ मई, १८३१

वासनामय विचार क्रियाशील रहे।

जुलाई १८३१ की दैनन्दिनी के साथ मालिक को पत्र

दोनों विश्व के मालिक!

आप दीर्घजीवी हों!

प्रणामोपरान्त मैं इस प्रकार निवेदन कर रहा

हैं : कानपुर से प्रोफेसर राजेन्द्रकुमार का पत्र आया कि ७ अगस्त, १९३१ को श्रद्धेय लाला जी साहब फतेहगढ़ चले गये। कानपुर में उनकी बीमारी भयावह हो गई और अब फतेहगढ़ में भी उनकी हालत में सुधार नहीं है। प्रोफेसर साहब का पत्र ११ अगस्त को आया। १३ अगस्त को मुन्शी श्रीराम के बहनोई ने लिखा कि लाला जी की हालत ने गत दो दिनों से भयंकर रूप धारण कर लिया है। पेट में तीव्र पीड़ा थी। सिरका एवं बर्फ के द्वारा कानपुर में जो चिकित्सा हुई थी उसके कारण पेट में गाँठे पड़ गयीं हैं। अब किसी हिन्दुस्तानी वैद्य की दवा हो रही है। प्रिय रामेश्वर प्रसाद फतेहगढ़ के लिए रवाना हो गए हैं। १२ अगस्त को मैं गुरु जी महाराज के स्वास्थ्य लाभ के लिए ध्यान कर रहा था। वह इस ढंग से कि मानो उनके सूक्ष्म शरीर से धारा उनके भौतिक शरीर पर उतर रही थी और उसके कारण वे पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। उसी समय अकस्मात् एक विचार (आवाज नहीं) अपने आप हृदय से निकला कि महात्मा जी भोजन के लिये नरही की पत्तियों का प्रयोग करें। नरही वास्तव में विष को मारने वाली है और इन दिनों अधिक मात्रा में मिल सकती थी। यदि आप उचित समझें तो कृपया लिखें। हकीम श्यामलाल फतेहगढ़ जाने को तैयार हैं पर उनक कहना है कि उनके पत्र का उत्तर आने पर जायेंगे। अभी तक उनके पत्र का उत्तर नहीं आया। मैंने प्रिय पं० रामेश्वर प्रसाद जी से कहा है कि वे वहाँ पूछ कर तार दे दें। मैंने उन्हें तिलहर होते हुये जाने को कहा

था पर कुछ निजी कार्यवश उन्हें बरेली रुक जाना पड़ा। अतः वे ३ बजे की गाड़ी से सीधे गये।

अब मैं जुलाई सन् १८३१ की दैनन्दिनी प्रस्तुत कर रहा हूँ। हृदय दशा की अनुभूति लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती क्योंकि प्रथमतः उचित शब्दों की कमी है; द्वितीय, दशा का सही अर्थ निकालने के लिए कोई उदाहरण यथेष्ट नहीं। चिन्ताओं के कारण मैं विस्तृत अथवा स्पष्ट रूप से दैनन्दिनी न लिख सका। दृष्टि में एक विस्तृत बस्ती मालूम पड़ती है जिसका स्वामी हृदय अपने आपको मानता है। मेरी आँखें उसपर इस प्रकार तैरती हैं जैसे किसी बादशाह की आँखें अपनी प्रजा पर। उस बस्ती की रक्षा एवं कल्याण का ख्याल मेरे मन में सदा बना रहता है और मेरा विचार, स्वाभाविक तौर पर, सम-भाव की स्थिति फैलाता रहता है। वहाँ के निवासियों के साथ का सम्बन्ध मुझे हृदय द्वारा मालूम होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन लोगों के सम्बन्ध हृदय के साथ तथा मेरे साथ जुड़े हुये हैं। मेरा स्तर मालिक के स्तर के समान लगता है। परन्तु उसमें कोई गर्व नहीं; किंचितमात्र भी मद नहीं। प्रेम की ज्वाला अत्यधिक बढ़ गई थी और शिक्षक की मौजूदगी में अपनी हाजिरी के अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं भाता था। अपने पथ प्रदर्शक एवं शिक्षक में श्रद्धा अत्यधिक बढ़ गई है किन्तु प्रेम गायब हो गया है। हृदय धर्मशास्त्र का अनुसरण करने का इच्छुक है, यद्यपि मैं धर्मशास्त्र का केवल नाम मात्र ही जानता

हूँ। पर सैकड़ों धन्यवाद कि एक ऐसी दशा बीज रूप में बनी रही जिससे लगा कि उसमें एक धूमिल रेखा-चित्र की भाँति धर्म के सभी कर्तव्य वर्तमान थे। शनैःशनैः यह दशा हृदय के अन्दर इस प्रकार स्थापित हो गई जैसे पृथ्वी जल सोख लेती है और केवल तरी मात्र दिखाई देती है। मानों जल का गुण पृथ्वी द्वारा ले लिया गया है। जब धर्मशास्त्र के प्रतिकूल मुझसे कुछ हो जाता है तो हृदय घृणा से भरकर प्रयत्न करता है कि ऐसी बात फिर न दुहराई जा सके।

७ जुलाई, १८३१

मालिक को एक स्वप्न में देखा। वे मेरी चारपाई के दाहिनी ओर बैठे थे।

१० जुलाई, १८३१

स्वप्न देखा कि मालिक ने मुझसे पूछताछ की कि क्या मैं एक नये आदमी को सिखा सकता था। जब मैंने अपने हृदय से इस सम्बन्ध में पूछा तो वह शान्त (चुप) था। एक स्वप्न में एक पूज्य सन्त एवं गुरु महाराज को देखा। पर मैं उसके बाद भूल गया।

१४ जुलाई, १८३१

एक स्वप्न में मालिक को देखा। एक पूज्य सन्त तथा एक दूसरे सत्संगी भी मौजूद थे। स्वप्न भूल गया।

१८ जलाई, १८३१

स्वप्न में एक मुस्लिम सन्त को देखा। स्वप्न का अधिकांश भूल गया। इतना भर स्मरण है कि मैं किसी जगह पहुँचा जहाँ

फलों का एक बगीचा था। वहाँ एक समाधि भी थी। मुस्लिम सन्त ने मुझे बताया कि वह एक खास आदमी की समाधि थी। मैं उनका नाम भूल गया। उन्होंने यह भी कहा कि मुझे अपनी दैनन्दिनी में इन सब घटनाओं को अंकित करना था। उन्होंने स्वयं स्वप्न में मुझे उन सबका उल्लेख कराया। मुस्लिम सन्त से एक व्यक्ति ने कहा कि यह लड़का (मुझे) सबके बाद का था। वहाँ और लोग भी मौजूद थे।

२६ जुलाई, १९३१

स्वप्न देखा कि मैं ध्यान में चला गया और मैं एक सन्त हजरत बकी विल्लाह के मजार पर था और ध्यान कर रहा था। उसी समय मुझ पर गम्भीर भाव की एक दशा छा गई और मेरे मुख से एक धीमी चीख निकली। मैं पुनः विनम्र निवेदन करता हूँ कि इन दिनों जो बिन्दु जागृत हो गये हैं उनमें असीमित पवित्रता, कोमलता तथा सूक्ष्मता है परन्तु उस बिन्दु पर कुछ कमजोरी महसूस होती है। वास्तव, में इस दशा में सत्संग, श्रद्धा और गुरु की कृपा के बिना ऊपर उठना असम्भव है। यह बिन्दु इतना अधिक हल्का एवं सुकुमार है कि व्यक्त नहीं किया जा सकता।

गुरु जी महाराज के अपने पार्थिव शरीर के छोड़ देने और ईश्वर में लय होने के कारण मेरे अन्दर एक अद्‌भुत दशा आ गई है। यह मुझे प्रमाणित कर दिया गया है कि गुरु के प्रति मुझमें कुछ भी प्यार न था। यदि प्यार होता तो खबर पाते ही मैं भी उनका अनुसरण किये होता। इतना तो निस्सन्देह सत्य है कि उनके बिना मुझे कुछ भी नहीं भाता। हृदय पर जो द्रव अवस्था छाई हुई है वह केवल हृदय ही को मालूम है। कभी-कभी मेरा हृदय चाहता है कि किसी पर्वत या जंगल में

जाकर भूखि को प्यास और बदा कर दूँ और इस प्रकार मैं उनमें मिलकर एक हो जाऊँ। मैंने सभी सुख, सुविधाओं, हँसी, मजाक को तिलांजलि दे दिया है। मालिक ऐसा बनाये रखने में मेरी सहायता करे।

१५ अगस्त से मुझमें यह बात घर कर रही है कि इन दिनों जिस बिन्दु पर मेरा विचार टिका हुआ है वह गुरु जी के आनन्द एवं असीमित शक्ति से, जिसे मुझे मेरे मालिक ने दिया है, भरा हुआ है; और वह मेरे विचार को शक्ति देने के उपरान्त अपनी ओर खींच रहा है। जब मैं गुरु को अपने विचार द्वारा ढूँढ़ता हूँ तो मीलों तक मैं उन्हें नहीं पाता। फिर भी ऐसा होता है कि वह गुरु की असीम शक्ति में लय हो जाता है। एक या दो बार ऐसा हुआ कि रंज की दशा में मुझे लगा कि मस्तिष्क का कोई पर्दा उठ गया है और विचार सीधे गुरु के साथ जुड़ गया है।

संक्षेप में, मुझे किसी भी प्रकार सान्त्वना नहीं। बिना गुरु के सूना और अँधेरा लगता है। हृदय हर क्षण उनसे मिलने को लालायित रहता है। मालिक के अपने मर्त्य शरीर को त्यागने के बहुत पहले से ही स्त्री, बच्चों एवं माता-पिता के प्रति मेरा प्रेम केवल सहानुभूति, कर्तव्य एवं आदर के रूप में रह गया था। मुझमें कोई इच्छा न थी। मेरा हृदय सदा उत्सुक रहता है कि येन केन प्रकारेण मैं इस शरीर को त्याग सकूँ। मुझे नहीं मालूम कि अब कितना जीवन शेष रह गया है। मैंने २२ को शाम की गाड़ी से फतेहगढ़ जाने का और वहाँ पाँच या छः दिन ठहरने का इरादा किया था। पर मैं वैसा न कर पाया।

अगस्त से नवम्बर १९३१

गम्भीर बीमारी के कारण मैं तिथिवार अपनी दैनन्दिनी न

लिख सका। जो कुछ स्मरण है, मैं लिख रहा हूँ। १५ अगस्त के प्रात: से मुझे लगा कि मस्तिष्क में एक बिन्दु जागृत हो गया है, पर कमजोरी महसूस होती थी। एक नितान्त शान्तता की स्थिति थी। मेरा कार्य क्षेत्र एक वृहत् एवं असीमित विस्तार में था और असीम शक्ति मालूम हुई। उसने मुझे विश्वास दिलाया कि वह असीम शक्ति पुनः स्थापित करने वाले मेरे मालिक (उद्धारक) की थी जो मुझे दी गई थी और मुझे सहारा दे रही थी। मालिक मुझे आगे ले जा रहे थे और जहाँ कमजोरी मालूम पड़ती थी, वे शक्ति डाल रहे थे। कुछ दिनों तक इस हालत में रहते हुये मुझे पतले दस्त का रोग आरम्भ हुआ। उसने ३० अगस्त १९३१ की रात्रि में हैजा का भयंकर रूप धारण कर लिया और मेरी दशा मरणासन्न हो गई। उस समय की दशा कृतज्ञता के योग्य है। मालिक ने हृदय को ऐसा ढाढ़स दिया जो फरिश्तों के भी भाग्य में बदा नहीं। स्त्री और बच्चों के लिये कोई चिन्ता न थी, और न माता-पिता के लिये प्यार और न अपना और न ईश्वर का कोई ख्याल। कहने का तात्पर्य यह है कि मैं नितान्त विचारहीन था और पूर्ण शान्ति का अनुभव कर रहा था। यह मेरे गुरु की महती कृपा थी कि मेरी पूरी बीमारी में वे मेरे चारपाई के पास खड़े थे। उन्होंने इस अकिंचन से दुबारा पूछा था कि यदि मेरी इच्छा हो तो वे मेरी बीमारी खींच लें। इस अकिंचन ने कोई उत्तर न दिया था। कुछ दिनों पश्चात् जब हैजा का असर जाता रहा, मेरी हालत को राहत मिली। कोटिशः धन्यबाद कि मैंने अपने में एक नये आध्यात्मिक जीवन का अनुभव किया। उस बिन्दु वाली कमजोरी बिल्कुल गायब हो गई थी। उस बिन्दु से, जहाँ मैं अपनी बीमारी से पूर्व ठहरा हुआ था, अब मैं उनके आशीर्वाद से मीलों आगे था। संकल्प व विकल्प नहीं उठे और यदि

संयोगवश कोई इच्छा उठ ही जाती तो प्रकृति स्वयं उसकी पूर्ति कर देती थी। मुझमें प्यारपन था। कुछ मास पूर्व इस बिन्दु के सम्बन्ध में पूज्य सन्त जी ने मुझे बताया था। ऊपर की हालत का विचार कुछ समय तक बना रहा। संयोग से यदि कोई इच्छा आ जाती तो उसकी पूर्ति हो जाती थी। जो कोई समस्या उठती, सुलझ जाती थी। धीरे-धीरे दशा ने दूसरा मोड़ लिया अर्थात् इन चीजों का (संकल्प एवं विकल्प की अनुपस्थिति; आध्यात्मिक समस्याओं का अपने आप सुलझाव; अथवा किसी प्रकार के विचार का आना और उसकी पूर्ति होना) विचार मेरे हृदय से विलुप्त हो गया। यह ठीक उस मनुष्य के उदाहरण की भाँति था जो एक बादशाह के महल में रहता था। उस महल की सजावट, उसकी शान, उसके सुन्दर रूप एवं भवन को—जितने दिनों तक हृदय का लगाव उन वस्तुओं से था—वह पसन्द करता था। पर कुछ दिन वहाँ व्यतीत हो जाने पर उसकी दशा उन लोगों की भाँति हो जाती है जो शौचालय में शौच करने के बाद उससे कोई मतलब नहीं रखते। इस उन्नत अवस्था में एक दूसरी शाखा अवश्य अंकुरित हो उठी। एक भावुक दशा होने के कारण इसने कभी हल्की और कभी तीव्र और कभी-कभी अधिक तीव्र होकर बनी रहना आरम्भ कर दिया। आरम्भ में तो इसका ठहराव अल्प समय के लिए होता, और फिर कई बार घण्टों अधिक होता। अन्त में यह कई दिनों तक बना रहता। जब भावना की दशा हट गई तब कायरता ने मुझे दबोच लिया। अब कभी-कभी भावनाओं की दशा का गाढ़ा आलिंगन बना रहता है। बाकी समय में मैं अपने को पापी, चिढ़ाया जाने वाला, दोषपूर्ण तथा अस्वच्छ समझता हूँ। सभी भाव गायब हो गए हैं और हृदय किसी भी चीज में आनन्द नहीं लेता। जब रस्सियाँ हिलाई जाती हैं तो कठपुतली की भाँति कार्य

किए जाते हैं। मैं सुरतालों की टनटनाहट के अनुकूल नृत्य करता हूँ।

एक चीज जो मैंने जुलाई १८३१ की दैनन्दिनी में उल्लेख किया था वह यह है कि मेरे अन्दर एक ऐसी दशा छाई हुई थी जो यह दर्शाती थी कि मेरे विचार में धर्मशास्त्र के तत्वों का पालन करना प्रवेश कर गया है और अपने पारस्परिक क्रीड़ाओं के परिणामस्वरूप वे मुझे धर्मशास्त्र का अनुसरण करने के लिए बाध्य करेंगी। यह दशा बराबर महसूस होती है और अब भी मस्तिष्क उसका पालन करना चाहता है। मैं धर्मशास्त्र के नाम को छोड़कर और कुछ नहीं जानता। गुरु महाराज में ही मुझे श्रद्धा है। जब वे जैसा चाहेंगे वैसा ही किया जाएगा। हेजा के आक्रमण के पूर्व, एक रात, मालिक की मृत्यु पर मैं हृदय के पथरीले महल को आँसुओं से द्रवीभूत कर रहा था। अत्यन्त बेचैनी थी और आँखें बन्द थीं। मैंने एकाएक यह महसूस किया कि मालिक की मूर्ति शरीर के प्रत्येक अंग में मौजूद थी। एक भी कण ऐसा न था जिसमें गुरु जी मौजूद न हों। वैसी दशा बहुधा बहुत दिनों तक महसूस होती रही।

१७ नवम्बर, १८३१

स्वप्न में एक सन्त को देखा। वे एक बिस्तर पर बैठे थे और आप बाईं ओर बैठे थे। सन्त ने मुझे दीक्षित करने के लिए हाथ बढ़ाने को कहा। यह सोचकर कि मैं तो पहले ही दीक्षित हो चुका हूँ, मैंने आनाकानी की। किसी प्रकार उनकी इच्छा की पूर्ति करने के निमित्त मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया। उन्होंने अपना हाथ मेरे हाथ पर रखा और दीक्षित करते समय जो कुछ किया जाता है, किया। उस समय मुझे मालूम हुआ कि कोई बहुत ऊँचा बिन्दु जागृत किया गया है। यह अवस्था बहुत दिनों तक बनी रही।

२५ **नवम्बर**, १८३१

एक स्वप्न के अन्त में मैं जाग उठा और फिर सो जाने पर एक अन्य स्वप्न में मैंने पूज्य लाला जी साहब को देखा। उन्होंने मुझसे **तर्क** और **सन्तपन** का अर्थ पूछा। मैंने उत्तर दिया जिसे उन्होंने सही प्रमाणित किया। फिर उन्होंने **चिन्तक वस्तु** का अर्थ पूछा। मैंने उनसे कहा कि मैं **चिन्तक** का अर्थ नहीं जानता था। उन्होंने कहा कि **चिन्तक** शब्द संयुक्त था। इस प्रश्न का अपना उत्तर मुझे देना था और तब वे मुझे बहुत कुछ और बताते। इस पर मैं जाग उठा।

२७ **नवम्बर**, १८३१

दोपहर के समय विचार आया कि उन भौतिक वस्तुओं के प्रति, जो केवल सुख के लिए थे, अपना हृदय देना अधर्म था।

टिप्पणी :—

बीमारी में मैं बहुधा पूज्य लाला जी साहब को स्वप्नों में देखा करता था और वे अकसर मेरी बीमारी के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट किया करते थे। उदाहरणार्थ, उन्होंने कहा कि मुझे इस बीमारी के लिए डाक्टरी दवा नहीं करना चाहिए था। उनकी राय के अनुसार काम किया गया। बहुधा वे स्वप्न में भी प्राणाहुति दिया करते थे। दूसरी बात यह है कि मेरे अन्दर यह विचार है कि मैं ८४ लाख योनियों के आनन्द से गुजर रहा हूँ। यही कारण है कि गत दो वर्षों में एक दिन भी बिना किसी बीमारी के नहीं बीता है और मुझे मानसिक एवं शारीरिक दुख दर्द सहना पड़ता है। स्वप्न में भी मैं कर्मों का भोग भोगता हूँ। कोई मुझे एक भाले से चोट करता है और कोई मुझे दर्द पहुँचाता है, इत्यादि।

इस समय जो दशा है वह लेखनी तथा अन्य उपायों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। एक साधारण मनुष्य की भाँति दशा बहुत अधिक गिरी हुई रहती है। अज्ञानता एवं गन्दगी से एक बड़ा सम्बन्ध सा मालूम पड़ता है। वर्तमान हालत की तुलना बीती हुई हालत से करने पर एक बड़ा अन्तर स्पष्ट मालूम पड़ता है। अतः बहुधा आश्चर्य होता है, भागदौड़ और तेजी गायब हो गई है। इस दशा के अनुकूल निम्नांकित पद्य होठों तक आता है :—

"बहुत जिक्र सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो कतरए खूँन निकला।"

कभी विचार कहता है कि आध्यात्मिकता का आरम्भ अब हो गया है। कभी वह कहता है कि जब माया का अन्त होता है, अर्थात् जब विचार माया के क्षेत्र से पूर्णतः मुक्त हो जाता है, तभी आध्यात्मिकता का आरम्भ समझना चाहिये। यहाँ तक तो यह सब मार्ग के केवल पदार्थ हैं। आध्यात्मिकता का आरम्भ अभी बहुत दूर है।

वर्तमान अवस्था एक कमजोर बीमार मनुष्य की भाँति है जिसके शरीर का प्रत्येक अंग कमजोरी का भान कराता है। ईश्वर जानता है कि मेरी भौतिकता (शारीरिक) आध्यात्मिकता से शासित है, अथवा यह ध्येय तक पहुँचने का एक मार्ग है। जब कोई अतीत अथवा वर्तमान के किसी सन्त का जिक्र करता है या आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में बातें करता है तो अवश्य ही प्रेम एवं साहस की कुछ तीव्रता महसूस होती है। यह निस्सन्देह उत्साहवर्धक है कि हर क्षण दैवी आनन्द उतरता हुआ मालूम पड़ता है और गुरु की कृपा मेरी दशा में निहित है। इसके लिए मैं सकड़ों बार आभार प्रकट करता हूँ। वास्तव में, ईश्वर का

यह गरीब भक्त इस दैवी आनन्द के योग्य न था। यह तो हमारे वर्ग के सन्तों की कृपा एवं सहानुभूति है।

५ दिसम्बर, १९३१

रात्रि में स्वप्न देखा कि एक सन्त मेरे साथ थे और उन महान मुस्लिम सन्त ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया और अपने कन्धों पर बैठाने के लिए मेरे जूते उतारने लगे। मैंने, जो वे कर रहे थे उसका विरोध किया किन्तु उन्होंने कोई परवाह न की। मेरे जूते उतारकर हाथों में ले लिया और मुझे अपने कन्धों पर बिठा लिया। मैंने सोचा कि सन्त ने किसी नदी को पार करने के निमित्त मुझे अपने कन्धों पर बैठाया होगा। एक नदी भी स्वप्न में देखा, पर, उसके आगे कुछ याद नहीं है। कुछ भी हो, पूरे स्वप्न में सन्त मेरे साथ थे।

२७ दिसम्बर, १९३१

स्वप्न में देखा कि मैं अपने गाँव जा रहा था। मार्ग में जलालाबाद आ गया। मुनीम और जगमोहन (मालिक के पुत्र) भी वहाँ थे। मुनीम ने बताया कि जगमोहन की दुकान नहीं चल रही थी और यह सुझाव दिया कि यदि मैं चाहूँ तो वह उन्नति कर सकती है। मैंने कहा कि मैं यह कब चाहूँगा कि वह उन्नति न करे, और, फिर कहा कि यह सब तो ईश्वर के हाथों में है। उसी समय मैंने जगमोहन की दुकान की उन्नति के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया। इसके बाद मैं एक बँगले में पहुँचा जहाँ पूज्य लाला जी साहब ठहरे हुए थे और मेरी पूज्यमाता एवं प्रिय जगमोहन दूसरे बँगले में मौजूद थे। बँगले में पानी चढ़ रहा था और कमरों को बाढ़ से बचाने का भरसक प्रयत्न हो रहा था। पर जल फिर-फिर प्रवेश कर जाता था। तब मैं उस बँगले पर गया जहाँ वे पूज्य सन्त ठहरे हुए थे। बरामदे में कुछ महिलाएँ

ध्यान कर रही थीं। अन्दर कमरे में प्रिय रामेश्वर प्रसाद (मेरे गुरु भाई) और एक या दो अन्य लोग बैठे हुए थे। मैं अन्दर गया। मालिक ने मुझे अपने पास दाहिनी ओर बैठा लिया। उन्होंने मुझे प्राणाहुति दिया और एक शेर के विषय में पूछा कि क्या वह मुझे याद है ? उनका इस शेर से तात्पर्य था :—

मन तो शुदम तू मन शुदी
मन तन शुदम तू जाँ शुदी
ता कस न गोयत बाद अज़ीं
मन दीगरम तू दी गरी।

"मैं तू हो जाऊँ, तू मैं। मैं शरीर हो जाऊँ तू आत्मा। जिससे अब से यह कोई न कह सके कि मैं और तू अलग है।"

पर मुझे वह याद न आया। उन्होंने मुझे याद दिलाया "मैं तू हो जाऊँ और तू मैं।" उसके बाद मैं जग गया। बहुत दिनों तक एक बहुत हल्की एवं सूक्ष्म दशा महसूस होती रही।

किसी को मरते देख मेरा हृदय भी मरना चाहता है। मालिक की महासमाधि के बाद यह अवस्था तेज हो गई है। यद्यपि इस गरीब पर सन्त का साया हर समय रहता है फिर भी इस अकिंचन की राय में वास्तविकता की पूर्ण झलक नहीं मिल सकती जब तक कि मूलखण्ड (Cage) से उड़ान न की जाय। जितनी लम्बी जिन्दगी उतना ही अधिक पापों का खतरा। एक अंग्रेजी कहावत भी है "जिन्हें देवतागण प्यार करते हैं वे युवावस्था में ही मर जाते हैं।" मुझे इसकी सत्यता का भी परीक्षण करना है। मैं भक्ति के कर्तव्यों को निभाने में असमर्थ हूँ। मुझे मालिक से कृपा की आशाएँ हैं। उनकी कृपा के कारण

यह मेरे सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त बन गया है। गुरु जी मुझे ऐसा बनाए रख कि अन्य लोग अपने कर्तव्य करें या न करें पर मैं दूसरों के प्रति अपना कर्तव्य अवश्य निभाऊँ। कहने का तात्पर्य है कि "वह अपनी बुरी आदत नहीं छोड़ेगा। हम अपनी अच्छी आदत क्यों छोड़ें?" के आदर्श वाक्य के अनुसार हमें अपना कर्तव्य देखना चाहिए, दूसरों के नहीं। हमारे गुरु जी महाराज इस पर पूर्ण रूप से चलते थे। अतः यह सिद्धान्त सही है। इस बात को ध्यान में रख उनके आशीर्वाद का इन्तजार है; और सबसे बड़ा आशीर्वाद मेरे लिये यह होगा कि वे मुझे शीघ्र ही अपने पास बुला लें!

———

१९३२

मैं अपनी हालत कैसे बयान करूँ ? उसे सही बयान नहीं किया जा सकता। एक सन्त द्वारा बयान की हुई एक कहानी से प्राप्त सबक याद आता है। 'जिसने देखा है उसमें बयान करने की शक्ति नहीं, जिसमें बयान करने की शक्ति है उसमें देखने की शक्ति नहीं है।' इसका अर्थ है कि यह हालत बयान के बाहर है। उस बिन्दु का वर्णन, जिसे मेरे मालिक ने मुझे पार कराया है, शब्दों या लेखनी द्वारा नहीं किया जा सकता। फिर भी आत्मिक अवस्थाएँ अथवा हृदय पर उतरने वाले प्रभाव का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। कुछ महीनों पूर्व हालत ऐसी थी कि निकटता बढ़ती ही गई, परन्तु उस हालत के आरम्भ में जो निकटता थी वह कुछ दिनो तक बनी रही और फिर, दिन पर दिन, उसी शक्ति या रूप के साथ। पर तुलना करने पर वह मुझे पिछले दिन की अपेक्षा अगले दिन और अधिक मालूम पड़ा। अब न तो दूरी और न निकटता का ज्ञान है। जो है सो है।

पिछले महीने आकर्षण अधिक महसूस हुआ था। हालत संतुलित एवं मनोहर थी। यह विचार कि मेरा निवास स्वर्गीय संसार में था, अत्यन्त तीव्र था। मुझे लगा कि वही मेरा गृहस्थान था और मैं उसी संसार का एक निवासी था। इस

संसार में मेरी स्थिति एक यात्री की स्थिति की भाँति थी और ध्यान करने पर वह अब भी वैसा ही लगता है। जब मैं बोलता हूँ तो अकसर मुझे लगता है कि मैं एक बोलती चलती तस्वीर हूँ। एक सिनेमा में बिजली व ग्रामोफोन पीछे की ओर लगाए जाते हैं। जब पर्दे पर रोशनी फेंकी जाती है तो उस पर चित्र दीख पड़ते हैं। उन चित्रों पर स्वरों के छाप रहते हैं। ग्रामोफोन का स्वर इन छापों (प्रभावों) से सम्बन्धित होता है, अर्थात्, चित्र ग्रामोफोन से जीवन प्राप्त करते हैं पर बाहर से देखने वाले को स्वर चित्रों से निकलते से मालूम पड़ते हैं। वैसा ही मेरा हाल है। "यद्यपि तीर निश्चय ही धनुष में से गुजरती है पर ज्ञानी पुरुष उसे वैसा धनुर्धर के द्वारा देखता है।"

मस्तिष्क में अज्ञानता के साथ सम्बन्ध अकसर मालूम पड़ता है और आध्यात्मिकता की विस्मृति इतनी अधिक मालूम पड़ती है गोया इस गरीब ने इस ऊजड़ मैदान में कभी भी कदम न रखा हो। फिर भी, बेचैनी किसी न किसी रूप में वहाँ मौजूद रहती है। गुरु को धन्यवाद है कि वहाँ कम से कम कुछ तो है।

एक सन्देह बहुधा मेरे मन में उठता है (और यह दीर्घकाल से है) कि आध्यात्मिकता का आरम्भ बनाया गया है अथवा नहीं। पहले मेरा ख्याल था कि आध्यात्मिकता का आरम्भ प्रलय से है। किसी के शब्दों में 'नित्यता का पथ बिना प्रलय के नहीं मिलता।' फिर विचार आया कि प्रलय दशा या प्रलय ही आध्यात्मिकता का आरम्भ है। उसके बाद विचार आया 'नहीं, आध्यात्मिकता बका या **सायुज्यता** से आरम्भ होती है।' अब मेरा यह विचार है कि जब ज्ञान या **सुरत** ईश्वरीय क्षेत्र में प्रवेश करता है तभी इसे आध्यात्मिकता का आरम्भ मानना चाहिये। मुझे नहीं मालूम कि यह सन्देह क्यों बना रहता है।

६ अक्टूबर, १९३२

दोपहर को जब मेरी नींद टूटी और आँखें अधखुली ही थीं तो लगा मानो महात्मा जी महाराज आये थे। स्वप्निल वातावरण छाया हुआ था। कमरे में मेरी पत्नी और मैं मौजूद था। गुरु जी तख्ते पर बैठ गये और कहा कि किसी मुश्किल का हल निकालने के लिए प्रार्थना करना अपना कर्तव्य है, और, ध्यान तथा प्रार्थना

स्वास्थ्य के लिए आवश्यक थे। मैंने सोचा कि वे मुझसे कह रहे थे कि मुझ पर कोई मुसीबत पड़ने वाली थी। मैंने निवेदन किया कि मैं निश्चय ही उनकी आज्ञा का पालन करूँगा पर मुझे दुखदर्द या बीमारी की कोई चिन्ता न थी। गुरु जी की उपस्थिति में एक विचार आया कि जो उन्होंने कहा वह मेरी पत्नी के सम्बन्ध में था। मैं चुप हो गया। गुरु जी एक रजाई में लिपटे पड़े थे और उनका पवित्र मुख जरा, धुँधला था। सोने जाने के पहले मैं अस्वस्थ था और एक प्रकार की मचली या उल्टी हो रही थी। मेरी पत्नी मुझे पंखा झलते-झलते सो गई थीं। मैंने उन्हें जगाया और पूछ-ताछ की। उन्होंने बताया कि उन्हें याद नहीं कि किसी ने उनसे, जब कि आँखें अधखुली थीं, क्या कहा।

८ अक्टूबर, १८३२

स्वप्न में एक सन्त को देखा। स्वप्न का अधिकांश भूल गया। तब मैंने महात्मा जी महाराज को देखा। इतना याद है कि तीन दिन लगातार सत्संग हुआ था। वहाँ पर पं० रामेश्वर प्रसाद तथा करुणाशंकर मौजूद थे।

१० अक्टूबर, १८३२

दिन में स्वप्न देखा कि मेरी हालत उस मनुष्य की भाँति हो गई थी जिसे भंग पिलाकर गतिहीन कर दिया गया हो, पर, फिर भी वह सचेत हो। मैं न तो हाथ और न पैर हिला डुला सकता था। उसके बाद मैंने एक दूसरा स्वप्न देखा कि मेरी हालत एक मरे हुए व्यक्ति की भाँति थी, और मैं बिल्कुल विचार-शून्य था।

११ अक्टूबर, १८३२

स्वप्न में एक सन्त को देखा और उनकी अनुमति से किसी ने मुझे दीक्षित किया। मेरे सिर पर अपना हाथ रखने के बाद उन्होंने मुझसे कहलाया कि मैं क्षितिज के हाथ पर दीक्षित किया जा रहा था। पूज्य सन्त ने मुझसे पूछा कि क्या मैं क्षितिज के हाथ पर दीक्षित किया गया था? मैंने कहा—हाँ। फिर किसी और ने मुझे दीक्षित किया।

१२ अक्टूबर, १८३२

रात में एक पूज्य सन्त को स्वप्न में देखा। पूरे स्वप्न भर वे

सत्संग करते रहे। उसी रात जब मैं लगभग जग सा गया था, मैंने गुरु जी महाराज को एक स्वप्न में देखा। वे मेरी चारपाई पर बैठ गये और मेरे पतले दस्त के विषय में पूछा कि क्या हालत थी ? मैंने बताया कि मुझे पाँच या छः गश (मूर्च्छा) आये थे। तब उन्होंने आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में कुछ पूछा। मैंने निवेदन किया कि जो कुछ भी मैं पाऊँगा वह केवल उन्हीं से। यह उन पर निर्भर था कि वे दें या न दें; अथवा जो अभी तक उन्होंने दिया था, दूसरों में बाँट दें। यह कहते हुए मैं रोने लगा। मालिक ने कहा कि यदि ऐसा है तो वह अच्छा और भला है। उन्होंने मुझे एक प्राणाहुति दी जिसने पूरे शरीर के सभी कणों में एक ऐसी गूँज पैदा कर दिया मानो अन्दर चिड़ियाँ थीं; और ऐसा लगा कि शरीर का प्रत्येक कण किसी के द्वारा निगला जा रहा था। उन्होंने दूसरी प्राणाहुति दी जिसने मुझे सिर से पैर तक आवेशित कर दिया, हृदय अधिक विस्तारित हो रहा था। तीव्र पीड़ा थी जिसके कारण हृदय फटा जा रहा था। उन्होंने तीन प्राणाहुतियाँ दीं। प्राणाहुति के बीच मेरे मस्तिष्क में विचार आया और मुझे लगा कि मैं शरीर छोड़ दूँगा। मैंने कहा कि मैं उसके लिए तैयार था। मालिक भौंचक्के हो गये और उन्होंने प्राणाहुति की धारा को वापस ले लिया। मैंने बहुत दिनों तक अपने को आवेशित पाया।

१८ अक्टूबर, १९३२

मैंने स्वप्न में एक सन्त को देखा और उनसे प्राणाहुति प्राप्त किया। इसके बाद मुझे याद नहीं।

२८ नवम्बर, १९३२

स्वप्न देखा कि मैं गुरु जी महाराज के ध्यान में बैठा था। शीघ्र ही, ध्यान में, उन्होंने ६-७ प्राणाहुतियाँ दिया और मैं सिर से पैर तक पूर्णतया आवेशित हो गया। आनन्द की स्थिति ऐसी थी मानो वह एकाएक जोरों से बरस रही हो।

चीजें चलती रहीं। वे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर होती गईं—लगभग अवर्णनीय। प्रत्येक सूक्ष्म अवस्था दूसरे सूक्ष्मतर अवस्था के

इन्तजार में थी। वह समय आता है जब संकीर्णता से विशालता निकल पडती है और संकीर्णता स्वयं विशालतर फैलाव बन जाती है। मालिक के विधि द्वारा मैंने प्रतिदिन नवजीवन प्राप्त किया। मैं नहीं जानता कि 'जीवन' मेरी हालत का सटीक अर्थ होगा। अतः दैनन्दिनी वर्षों तक चुप पड़ी रही। जो कुछ भी मैं उस समय समझ सका उन तथ्यों को टिप्पणियों में अंकित कर सका हूँ।

वास्तव में मेरे **मालिक** नहीं मरे थे मैंने अपने आप को मरा महसूस किया।

मृत्यु : मैंने अपनी पुस्तक "सहज मार्ग के प्रकाश में राजयोग का दिव्य दर्शन" में एक शब्द का प्रयोग किया है—'जीवित शव'। यह उस समय की हालत है जब एक व्यक्ति लयावस्था में लय हो जाता है—फ़नाये-फ़ना।

इन अवस्थाओं की सर्वोत्तम व्याख्या एक नकारात्मक ढंग से की जा सकती है। मैं अपना विचार सांसारिक ढंग से दे रहा हूँ। जब अतीत के संकार अत्यन्त क्रियाशील हो जाते हैं तब **प्रकृति** विश्राम के लिए मृत्यु को एक विराम के रूप में लाती है जिससे मनुष्य दूसरे जीवन में अपने कर्मफलों को भोगने के लिए ताजा हो जाय। अब हम जीवन के आध्यात्मिक स्तर पर आते हैं। यहाँ मृत्यु का अर्थ है मस्तिष्क की भुलक्कड़ स्थिति जो वहाँ की सभी चीजों को अस्वीकार कर देती है। यह कैसे होता है ? मैं स्वयं अपना मत प्रकट कर रहा हूँ। मस्तिष्क का स्वभाव है कि वह जो कुछ पाता है उसे अस्वीकार कर देता है। यही कारण है कि मनुष्य हर समय विचारों का झोंका (वेग) महसूस करता है। विचार तो धूल के समान हैं जो हवा के साथ उड़ती है पर कोई इमारत नहीं बना सकती क्योंकि उसमें उनकी कोई शक्ति नहीं है। जब आप उन्हें शक्ति देते हैं तो वे दीमकों के टीलों की भाँति मजबूत हो जाते हैं। सभी को जीवन मिला है; पर हमें जीवन में जीवन को ढूँढ़ना है जो अन्ततोगत्वा स्वयं अपने ही स्वत्व में लय हो जाता है।

जब हम वृद्ध होने लगते हैं तो विश्राम को हिंडोले में भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब हम आध्यात्मिकता में बड़े ऊँचे उठ जाते हैं तो हम नवीन विश्रामयुक्त स्थिति में प्रविष्ट होते हैं—ऐसी स्थिति जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ विश्राम का विचार

है, और जब मस्तिष्क में विश्राम का विचार आता है तो हम तकिए एवं चारपाई की याद करने लगते हैं और वह बहुत कुछ कृत्रिम बन जाता है। कृत्रिमता तभी हट सकती है जब हम दोनों प्रकार के विचारों-निषेधार्थक एवं सार्थक—से मुक्त हों। निषेधार्थक में हम कुछ खोते हैं और सार्थक में हम कुछ पाते हैं। अतः जब वहाँ खोना एवं पाना दोनों है तो हम माया के मेल में रहते हैं।

यदि हम विश्राम को अविश्राम का नाम दें और अविश्राम को विश्राम का तो अविश्राम की स्थिति में हम कहेंगे कि 'मैं विश्राम कर रहा हूँ।' परन्तु इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम एवं अविश्राम दोनों का स्वाद लेना आवश्यक होगा। यह वास्तव में विचार की गहराई पर निर्भर है। प्रत्येक विचार का अन्तिम आधार वास्तविकता है जो सभी को माँगने पर शक्ति देता है। पर दुख इस बात का है कि हम केवल शक्ति ही के पास जाते हैं, उस शक्ति के आधार के पास नहीं। परिणामस्वरूप, हम सही कार्यों के बजाय गलत कार्य अधिक करते हैं। सच्चा चरित्र सन्तपन में बनता है और दुख दर्द आधा हो जाता है। दुख दर्द तो वास्तव में वह है जिसे हम सहते (भोगते) नहीं।

भारतवर्ष का आध्यात्मिक इतिहास यह बताता है कि भारतवर्ष के सन्तों ने ईश्वर से प्रार्थना किया कि संसार के सभी दुख दर्द उन्हें दे दे जिससे मानव उन दुखों से मुक्त हो जाय। लोग साधारणतः आध्यात्मिक तरीकों को अपनाते हैं जिससे उन्हें दुख दर्द से छुटकारा मिल सके। मेरा यह विचार है कि सन्त लोग आनन्द का उपभोग करने के लिए नहीं वरन् स्वयं दूसरों के द्वारा उपभोग किये जाने के लिए हैं। दुख दर्द तथा शान्ति दोनों अपने आधार पर एक हो जाते हैं। अपनी विदेश यात्रा में एक अत्यन्त अद्भुत वस्तु जो मैंने देखी वह यह थी कि लोग शान्ति के भूखे हैं। वे जानते हैं कि शान्ति के पहले क्या है, पर वे यह जानने का प्रत्यन्त नहीं करते कि शान्ति के बाद क्या है। यदि कोई मुझसे इसका अर्थ पूछे तो मैं सहज ही कह सकता हूँ कि **अशान्त शान्ति** ही **सच्ची शान्ति** है और ईश्वरीयता के समीपतर है। शान्ति के **बाद वास्तविकता** है, अत्यधिक प्यारा एवं आलिंगनीय। हम हिंडोले से आरम्भ करते हैं और कब्र में विश्राम करते हैं। यही मानव जीवन का पूर्ण जीवन-चित्र है।

१९४२ में मैंने अपने श्रद्धेय मालिक को स्वप्न में देखा। उन्होंने कहा कि "कुछ लोग ऐसे हैं जो धन दौलत की आकांक्षा करते हैं पर

वे कुछ भी नहीं कर सकते जब तक कि वे मुझे अपना आधार न बना लें"। उन्होंने मेरे लिए एक ध्यान बताया और यह आदेश दिया कि इस प्रकार का ध्यान केवल उस समय किया जाय जब शरीर की चेतनता पूर्णतः विलुप्त हो जाय और आत्मा की चेतनता आरम्भ हो। इस प्रकार का ध्यान आत्मा के विचार को निकालकर कार्य करता है। यह विचार भी सदा के लिये हमें छोड़ दे। आध्यात्मिक इतिहास में प्रथम बार मेरे अनुभव में यह आया है कि शरीर एवं आत्मा, दोनों, के विचार से अपना पिण्ड छुड़ाना आवश्यक है। तत्पश्चात् चेतनता की चेतनता को भी विदा ले लेना चाहिये। इस विचार को मैंने 'सहज मार्ग के प्रकाश में राजयोग का दिव्यदर्शन' में प्रकट किया है। वैज्ञानिक-संसार मेरे विचारों से भले ही सहमत न होगा क्योंकि यह विषय घन-पदार्थ से परे है और विज्ञान इसकी व्याख्या नहीं कर सकता। सच्चा मनोविज्ञान मस्तिष्क से परे है; और वास्तविकता (ईश्वरतत्व) और परे, फिर भी और परे।

लोग साधारणतः इसे एक सन्दिग्ध उक्ति कह सकते हैं। वहाँ ताजगी है पर अमीरी नहीं। वे अमीर हैं जब उनके पास धन होता है; वे गरीब हैं जब उनके पास धन नहीं होता। यही वास्तविक संन्दिग्धता है क्योंकि वे इन दोनों के पारस्परिक सच्चे सम्बन्ध को नहीं समझते। वे दोनों एक ही माँ से पैदा हुए हैं। अतः माँ अधिक महत्वपूर्ण है न कि ये दोनों चीजें।

इसके बाद दैवी क्रियाओं की सुगन्ध के इन्तजार में नई कलियों ने खिलना आरम्भ कर दिया है। एक प्रकार का हल्का नशा आरम्भ हो गया जो न केवल हृदय एवं मस्तिष्क के लिए रुचिकर था वरन् हमारे इर्द-गिर्द सभी के लिए। उस हल्के आनन्द की दशा में एक शेर मेरे हृदय को गुदगुदा रहा था :—

शोरिसे अन्दली ने रूह चमन में फूँक दी
वर्ना यहाँ कली कली मस्त थी ख्वाबे नाज़ में।

बुलबुल की चहक से बगीचे में जान आ गई नहीं तो प्रत्येक कली अपने ही स्वप्न के गर्व में मस्त थी।

परिवर्तन **प्रकृति** का विश्व-व्यापी नियम है। जो हम आज देखते हैं वह कल कुछ दूसरा हो जाएगा, भले ही अन्तर निम्नतम हो। रात्रि के बाद दिन आता है। प्रत्येक परिवर्तन कुछ परिणाम लाता है। यदि

कोई परिवर्तन नहीं तो कोई मूल सिद्धान्त नहीं। यदि मूल सिद्धान्त नहीं है तो परमतत्व (परमात्मा) भी नहीं। परिवर्तन के ही क्रम द्वारा संसार में प्रत्येक वस्तु फलित होती है एक कवि ने कहा :—

जर्रे का भी चमकेगा सितारा
कायम जो जमीनो आस्माँ है।

जमीन और आसमान यदि हैं तो कण अवश्य ही कभी न कभी चमकेगा।

वास्तव में क्रान्ति (परिवर्तन) सभी उन्नतियों का आधार है। गति विकास को जन्म देती है, और विकास गति को अवरुद्ध करता है।

मैंने अब यह महसूस करना आरम्भ किया कि फतेहगढ़ के मेरे श्रद्धेय मालिक समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज की दुआओं की वृष्टि मेरे अस्तित्व के कण-कण में हो रही है। जो दशा मैंने महसूस किया उसका आनन्द केवल अनुभव ही ले सकता है।

चीजें विभिन्न रंगों में चलती रहीं जब तक कि वे सभी अपने स्वाभाविक परिणामस्वरूप एक न हो गयीं। यह वही अवस्था है जिसे हम सरलता से रंग-विहीन अवस्था कह सकते हैं। उसके पश्चात् उस दशा ने उठना आरम्भ कर दिया है जो प्रायः अपरिवर्तनशील थी। कुछ समय तक यह चीज बनी रही जब कि एक समय ऐसा आया कि उस दशा के ख्याल ने ही विदा ले लिया। मुझे नहीं मालूम कि मुझे बाद में क्या हो गया। मैं चुप था; संसार चुप था; प्रकृति चुप थी; और मैं, एक तरीके से, स्वयं चुप-कराने-वाला एक यन्त्र था। जब मैं इंगलैंड में था तो अपने निकटवर्ती सहयोगियों से हँसी-हँसी में मैंने कहा कि बोलने वाले अनेकों हैं पर मैं चुप-कराने-वाला यन्त्र हूँ। यह तो अपनी हालत का विनोदशील ढंग से प्रकट करने का एक तरीका था। इसे मैं न तो सन्तुलित कह सकता हूँ और न असन्तुलित।

इस बीच स्वामी वैराग्यानन्द के एक शिष्य मेरे पास आये और कुछ समय तक मेरे साथ ठहरे। मैंने उन्हें दो या तीन बार प्राणाहुति दिया। कुछ देर तक रहने के बाद वे अपने गुरु के पास लौट गये। गुरु ने उनकी दशा को जान लिया और उनसे पूछा कि वे उस बीच कहाँ गये थे और उन्हें किसने प्राणाहुति दिया था? उनके गुरु मेरे गुरु जी से परिचित थे। उन्होंने बताया कि "वह (मैं) अपने गुरु का प्रतिनिधित्व कर रहा है। जब उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्यागा तो **अपनी** सारी शक्ति उसमें (मुझमें) स्थानान्तरित कर दिया और उसमें (मुझमें) बिल्कुल लय हो गये।" उनके गुरु ने उनसे यह भी कहा कि वे मुझे सूचित कर दें कि वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब मैं अपने **मालिक** का प्रतिनिधित्व करूँगा। उनके शिष्य फिर वापस आये और उस विषय में मुझे सब कुछ बता दिया। कुछ समय पश्चात् वे फिर अपने गुरु के पास चले गये। उन्होंने फिर भविष्यवाणी किया कि वह समय अब आ गया था और अपने शिष्य से मुझे सूचित कर देने को कहा। एक सप्ताह बाद मेरी दशा ने खुलना आरम्भ कर दिया, और मैंने **वास्तविकता** की सच्ची आत्मा का आनन्द लेना प्रारम्भ कर दिया।

दूसरी ग्रन्थमाला में मेरी जीवनी गुरु के रूप में निकलेगी जैसा कि मेरे **मालिक** की इच्छा थी।

हम भी चुप, वह भी चुप,
रात भी चुप, चाँद भी चुप,
सभी कुछ गुम हुआ,
बस एक ही पैमाने में॥

———